THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186617

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—730 28-4-81—10,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H049.9143 Accession No. 4964

Author

Title

This book should be returned on or before the date last marked below

युग-चिन्तन

इस युग ने साहित्य, दर्शन और कलाओं के क्षेत्र में जितने द्रुत परिवर्तन देखे, तथा विरोधी विचारधाराओं और आन्दोलनों के जितने प्रहार सहे, वैसा पिछली कई शताब्दियों के जीवन-काल में नहीं हुआ। इस स्थिति में हमारी सदी के चुनिन्दा मस्तिष्क—दार्शनिक और वैज्ञानिक, कवि और आलोचक, उपन्यासकार और इतिहासकार, शिक्षा-शास्त्री और समाज-शास्त्री, मनोवैज्ञानिक और मनोविश्लेषक तथा महान् चिन्तक और विचारक अपने-अपने विशेष क्षेत्र में क्या सोचते हैं, किस दिशा में सक्रिय हैं, मानवीय चेतना को किधर ले जाना चाहते हैं—इसकी झलक 'युग चिन्तन' में प्रस्तुत है।

युग-चिन्तन

संकलन और रूपान्तर
शरद देवड़ा

रूपा एण्ड कम्पनी
कलकत्ता ० इलाहाबाद ० बम्बई

प्रकाशक : डी० मेहरा
रूपा एण्ड कम्पनी
१५ बंकिम चटर्जी स्ट्रीट
कलकत्ता-१२

प्रच्छद : नरेन्द्रनाथ दत्त

मुद्रक : युनाइटेड कमर्सियल प्रेस लि०
१ राजा गुरुदास स्ट्रीट
कलकत्ता-६

मूल्य—बारह रुपये पच्चास पैसे मात्र

अनुक्रम

दर्शन

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् :
मेरा आस्थावादी जीवन-दर्शन ९

डॉ० बर्ट्रेण्ड रसेल :
पाप के प्रति—वैज्ञानिक दृष्टिकोण १५

डॉ० हैवलाक एलिस :
मैं और जीवन के प्रति मेरी धारणा २१

रेबेका वेस्ट :
क्या जीवन में सुख त्याज्य हैं २९

डॉ० अल्बर्ट श्वाइत्ज़र :
जीवन के प्रत्येक अंकुर को मेरा नमस्कार ३३

डॉ० ज्युलियन हक्सले :
मेरी आस्था का चरम विन्दु ३८

डॉ० जे०बी०एस० हाल्डेन :
मैं और मेरा भौतिकवादी जीवन-दर्शन ४३

डॉ० कार्ल यास्पर्स :
आज के युग में दर्शन का दायित्व ४७

साहित्य

चार्ल्स बॉदलेयर :
फ्लावर्स आफ़ ईविल की भूमिका के तीन मसविदे ५३

फेल्डमान और गरटेनबर्ग :
आहत पीढ़ी और नाराज़ युवकों का मैनीफेस्टो ६२

माइकेल राबर्ट्स :
नयी कविता के पक्ष में एक वक्तव्य ७१
एलेन-रोब्ब ग्रिल्लेत :
एक प्रयोगवादी फ्रांसीसी कथाकार का घोषणा-पत्र ७८
विलियम कूपर :
एक परम्परावादी अँग्रेज़ कथाकार का वक्तव्य ८७
ताहा हुसैन :
अरबी साहित्य में पुनर्जागरण ९२
जेम्स एस० होम्स :
हिन्देशियाई साहित्य में आधुनिक युग का सूत्रपात ९८
मॉरिस क्रैन्स्टन :
अस्तित्ववाद और उसका आधुनिक सन्त–ज्यॉं-पॉल सार्त्र १०४
बोरिस पास्तरनाक :
मायकोवस्की की मृत्यु पर ११७
ईलियट, ऑडेन, टॉमस :
तीन पीढ़ियों के तीन शोक-गीत १२२
ओसामू देज़ाई :
एक मरणोन्मुखी जापानी कथाकार का मृत्युलेख १२७

समाज-शास्त्र

जोसे आरगेता ई गेस्से :
आज के युग का एक दिशाहीन विद्रोह १३६

यौन-मनोविज्ञान

साइमन दे ब्यूवोय :
नारी : प्रणयिनी रूप में १४३

यह संकलन

●

पिछले सभी युगों से हमारा यह युग विशेष महत्त्वपूर्ण है। केवल सभ्यता, भौतिक प्रगति और वैज्ञानिक उपलब्धियों की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि विचार और चिन्तन की दिशाओं में भी यह महत्ता स्पष्ट है। हमारे इस युग ने साहित्य, दर्शन और कलाओं के क्षेत्र में जितने द्रुत परिवर्तन देखे, तथा विरोधी विचारधाराओं और आन्दोलनों के जितने प्रहार सहे, वैसा पिछली कई शताब्दियों के जीवन-काल में नहीं हुआ। हमारी सदी के चुनिन्दा मस्तिष्क—दार्शनिक और वैज्ञानिक, कवि और आलोचक, उपन्यासकार और इतिहासकार, शिक्षा-शास्त्री और समाज-शास्त्री, मनोवैज्ञानिक और मनोविश्लेषक तथा महान् चिन्तक और विचारक अपने-अपने विशेष क्षेत्र में क्या सोचते हैं, किस दिशा में सक्रिय हैं, मानवीय चेतना को किधर ले जाना चाहते हैं—इसकी एक झलक प्रस्तुत करना इस संकलन का उद्देश्य है।

संकलन में एक ओर विश्व-विख्यात दार्शनिकों के आत्म-कथनों में उनके चिन्तन की विशेष दिशाओं का उनके ही शब्दों में विवेचन है। डॉ० राधाकृष्णन् आज के दिशाहारा मनुष्य को आशा का संदेश सुनाते हुए एक ऐसे 'आत्मिक धर्म' के उदय की घोषणा करते हैं जो मानवता को पूर्णता की ओर अग्रसर कराने में प्रयत्नशील होगा। डॉ० रसेल पाप के प्रति हमारी परम्परावादी ग़लत धारणा का खण्डन करते हुए बताते हैं कि किस तरह आज के युग में पाप के प्रति एक सही और स्वस्थ वैज्ञानिक दृष्टिकोण द्वारा ही हम सच्चा आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। डॉ० श्वाइत्ज़ार के विवेचन का क्षेत्र मनुष्य तक ही सीमित नहीं है; वे अपने लेख में जीवमात्र के प्रति आस्था के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं।

मॉरिस कैन्स्टन अस्तित्ववाद की सरल व्याख्या करते हुए उसके आधुनिक मसीहा सार्त्र की सब महत्त्वपूर्ण कृतियों का सहज विश्लेषण करते हैं। हमारे युग

में जनसाधारण की बढ़ती हुई शक्ति ने किस तरह सभ्यता, संस्कृति और ललित कलाओं को क्षति पहुँचाई है, स्पेनी विचारक गेस्से के लेख में इसका विश्लेषण है। डॉ० कार्ल यास्पर्स इस प्रचलित मान्यता का खण्डन करते हैं कि आज के वैज्ञानिक युग में दर्शन की कोई उपयोगिता नहीं रही; वास्तव में आज के मनुष्य को इस बढ़ते हुए भौतिकवाद के शिकंजे से छुड़ाने के लिए दर्शन का दायित्व पहले की अपेक्षा और बढ़ गया है।

यौन-मनोविश्लेषकों के आधुनिक आचार्य डॉ० हैवलाक एलिस अपने बीते हुए जीवन पर दृष्टिपात करते हुए उन व्यक्तियों और विचारधाराओं के प्रभावों का उल्लेख करते हैं जो उनके सिद्धान्त की उपलब्धि में सहायक हुए हैं। रेबेका वेस्ट इस प्रचलित धारणा का खण्डन करती हैं कि सुरा और सेक्स ही मानव जाति के पतन के दो मुख्य कारण हैं; इसके विपरीत उनका कहना है कि ये जीवन के वरदान साबित हो सकते हैं बशर्ते इनका संतुलन और विवेक के साथ उपभोग किया जाय। प्रेम करते समय नारी अपने तन और मन की किन-किन पगडंडियों से गुजरती है--इसका मनोवैज्ञानिक विवेचन व्यूबोय के लेख में प्रस्तुत है।

विश्व-प्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ० ज्युलियन हक्सले ईश्वर, जीवन और जगत् के गूढ़ रहस्यों की व्याख्या करते हुए यह आशावादी संदेश सुनाते हैं कि किस तरह हमारा यह जीवन सचमुच जीने योग्य बन सकता है। डॉ० हाल्डेन तत्कालीन यूरोप की उन परिस्थितियों का उल्लेख करते हैं जिनके कारण वे मार्क्सवाद पर आधारित भौतिकवादी दर्शन को अपनाने के लिए प्रेरित हुए।

विख्यात फ्रांसीसी कवि बॉदलेयर के कविता-संग्रह 'फ्लावर्स आफ़ ईविल' की भूमिका के तीन मसविदे न केवल ऐतिहासिक महत्त्व के हैं, वरन् बॉदलेयर के अपने मानसिक और चारित्रिक गठन की बहुत मोहक झलकियाँ प्रस्तुत करते हैं। एक संवेदनशील कवि-हृदय अपने मित्र की मृत्यु के समय कैसी एक अव्यक्त पीड़ा महसूस करता है यह नोबल पुरस्कार-विजेता पास्तरनाक की रचना में द्रष्टव्य है। ईलियट, ऑडेन और डायलन टॉमस बीसवीं सदी के तीन काव्य-महारथी हैं जिनकी एक-एक कविता यहाँ प्रस्तुत है।

आलोचकों में जीन फेल्डमान और मैक्स गरटेनबर्ग ने इस युग के सर्वाधिक निन्दित और प्रशंसित साहित्यकारों 'आहत पीढ़ी' और 'नाराज़ युवकों' की समस्त ख़ूबियों और ख़ामियों पर तटस्थ दृष्टि से विचार किया है। माइकेल राबर्ट्स ने नये युग में नयी कविता की महत्ता और अनिवार्यता पर प्रकाश डाला है। एलेन-रोब्ब गिल्लेत उपन्यास के प्रति परम्परावादी दृष्टिकोण का युक्तियुक्त खण्डन करते हुए उसकी जगह अपनी नयी और मौलिक स्थापनाओं की घोषणा करते हैं। ताहा हुसैन और होम्स के लेखों में दो एशियाई देशों—अरब और हिन्देशिया—की आधुनिक साहित्यिक प्रगति का सर्वांगीण अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

प्रसिद्ध जापानी कथाकार ओसामू देज़ाई को आत्महत्या के लिए किन कारणों ने मजबूर किया—इसका विवेचन प्रस्तुत करता है उसकी कथाकृति 'द सेटिंग सन' का नायक आत्महत्या के पूर्व अपने 'टेस्टामेन्ट' में।

मैं आशा करता हूँ, यह संकलन हिन्दी के विशाल पाठक-वर्ग के लिए उपयोगी साबित होगा।

३४।१सी, बालीगंज सरक्युलर रोड
कलकत्ता-१९

—शरद देवड़ा
१ अगस्त, १९६३

मेरा आस्थावादी जीवन-दर्शन

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

●

भारतीय दार्शनिक; सर्व-सम्मति से पूर्वी देशों की दार्शनिक परम्परा के योग्यतम व्याख्याता, तथा पूर्व और पश्चिम के आध्यात्मिक मूल्यों में समन्वय की भावना का सूत्र-पात करनेवाले शीर्षस्थ दार्शनिक।

प्रारम्भिक शिक्षा तिरूपति की एक ईसाई मिशनरी संस्था में हुई। सन् १९०९ में मद्रास के प्रेसिडेन्सी कॉलेज में दर्शन के प्राध्यापक नियुक्त हुए. जहाँ उन्होंने लगातार सात वर्षों तक हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्मों के महान् ग्रन्थों की व्याख्या की।

सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् कई विश्व-प्रसिद्ध संस्थाओं के प्रतिष्ठित पदों पर आसीन रहे हैं : आक्सफोर्ड में 'ऑल सौल्स कालेज' के सदस्य, बंगाल की 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' के आनेरेरी सदस्य, आक्सफोर्ड में 'ईस्टर्न रेलिजन्स एण्ड एथिक्स' के स्पाल्डिंग प्रोफेसर। इनके अतिरिक्त भी विश्व के अन्य बहुत से विश्वविद्यालयों की आनेरेरी उपाधियों के अधिकारी रहे हैं।

इन विश्वविद्यालयीन पदों के अलावा, सर्वपल्ली राधाकृष्णन् कई प्रतिष्ठित राजनैतिक, सांस्कृतिक और शैक्षणिक पदों पर भी सुशोभित रहे हैं। भारतीय विधान सभा के सदस्य, रूस में भारतीय राजदूत, पेरिस में यूनेस्को की कार्यकारिणी समिति के सभापति, १९५० में कलकत्ता में हुई भारतीय दार्शनिक कांग्रेस के रजत-जयन्ती अधिवेशन के सभापति, और इसके २० वर्ष पूर्व बनारस में हुई ऑल एशिया एजूकेशनल कांफ्रेन्स के सभापति आदि।

मई १९५२ में सर्वपल्ली राधाकृष्णन् भारतीय गणतंत्र के उप-राष्ट्रपति चुने गये, और इस सम्माननीय पद को दस वर्षों तक योग्यता पूर्वक निभाने के बाद गत वर्ष वे भारत के माननीय राष्ट्रपति चुने गये हैं।

माननीय सर्वपल्ली राधाकृष्णन् की दार्शनिक विचारधारा पर 'द लाइब्रेरी आफ़ लिविंग फ़िलासफ़र्स' में २१ विश्व-विख्यात अधिकारी विद्वानों के लेख हैं, जिसके प्रथम लेख

'राधाकृष्णन्स वर्ल्ड' में प्रोफेसर कोन्जर लिखते हैं : "दर्शन के इतिहास में इस तरह का अन्तर्राष्ट्रीय-व्यक्तित्व इसके पहले कभी देखने में नहीं आया था। .....दार्शनिक कभी महाराजा और सम्राट नहीं होंगे, लेकिन कभी-कभी एक दार्शनिक अपने तत्कालीनों पर जितना प्रभावक सिद्ध होता है वह महाराजों और सम्राटों के लिए भी ईर्ष्या की वस्तु होती है।"

प्रस्तुत कृति 'दिस इज माइ फ़िलासफी' शीर्षक ग्रन्थ में संकलित उनके 'द रेलिजन आफ़ा द स्पिरिट एण्ड द वर्ल्ड स नीड' शीर्षक विस्तृत निबंध का संक्षिप्त-रूपान्तर है।

आज के संक्रमणकालीन, अस्त-व्यस्त और प्रसव-जनित वेदना-तुल्य जीवन में हम एक ऐसे 'आत्मिक धर्म' का उदय होता हुआ पाते हैं जो आगे चलकर विभिन्न धर्मों का सिरमौर सिद्ध होगा,और मानवता को पूर्णत्व की ओर अग्रसर कराने मे सफल होगा। हर मानवात्मा में प्रतिष्ठित परमात्म-तत्व पर यह आत्मिक धर्म ज़ोर देता है। इस प्रकार जब परमात्म-तत्व हम सबकी समान भाव-भूमि बन जाता है तो हम सब एक समान सोचने लगते हैं।

उपनिषदों की विचारधारा, कनफ्यूसियस का मानवतावाद और बुद्ध की शिक्षा ने किसी एक मत या सम्प्रदाय के लिए कट्टरता का प्रतिपादन नहीं किया, इसीलिए इनके मानने वालों में धर्मान्धता और रूढ़िवादिता का अपेक्षाकृत अभाव है। इसका कारण यह है कि इनमे आत्मिक अनुभूति पर अधिक ज़ोर दिया जाता है। जिनकी अनुभूति जितनी अधिक गहरी होती है वे उतना ही उसके सम्बन्ध में मौन रहते है, क्योंकि वे जानते है कि यह अवर्णनीय है। वे महसूस करते हैं कि इस अनुभूति को व्यक्त करने का अर्थ इसके साथ विश्वासघात करना होगा; अपनी गहनतम आध्यात्मिक अनुभूति के समय हम 'मैं' को भूल जाते है। जब हम इसका वर्णन करते हैं तो वह बाद के चिन्तन के आधार पर ही होता है; और तब हम पूरी सतर्कता बरतते हुए कहते है कि सत्य परम्परागत रूपों में बँध नहीं सकता। कैथोलिक धर्मावलम्बी जे० जे० ओलियर कहते हैं : "आस्था का प्रकाश इतना पावन है कि उसकी तुलना में अन्य सब प्रकाश मलिन और अपवित्र लगते हैं।" जब संत लोग अपनी अनुभूति को अधिक विस्तार से व्यक्त करना चाहते हैं तो वे अपने सांस्कृतिक पूर्वजों द्वारा प्राप्त साधनों का उपयोग करते हैं। ईसा मसीह ने भी अपनी अनुभूति को समसामयिक यहूदी परम्परा में प्रचलित विचारों के माध्यम से व्यक्त किया था। कदाचित्, यह

भी सही है कि हम प्रलय के सिद्धान्त के लिए भी यहूदी विचार-परम्परा के ऋणी हैं। जब तक हम इसी पृथ्वी के प्राणी हैं, तब तक ऐतिहासिक मान्यताओं को हम पूरी तरह त्याग नहीं सकते।

जो धर्म आध्यात्मिक जीवन की यथार्थता में विश्वास करते है वे अपने सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति इसी के सन्दर्भ में करते हैं। धार्मिक विचारों का प्रयास सृष्टि की गुत्थी को सुलझाने की ओर उतना नहीं है जितना कि सन्तों की अनुभूति को व्यक्त करने की ओर है। ये विचार उग्र भावात्मक अनुभूति के व्यक्त सिद्धान्त हैं। ये अपनी अनुभूति के वास्तविक क्षेत्र से उठा लिये जाते है और इन्हें प्रयोगात्मक की अपेक्षा ऐतिहासिक, गहरे आन्तरिक बोध की जगह वस्तुवादी रूप दिया जाता है। ईसा आत्मा की गहराइयों में पैदा हुए हैं। हम कहते हैं कि वे जीवन जीते हैं, क्रास पर मरते हैं और फिर से जीवित हो जाते है। ये मात्र ऐतिहासिक घटनाएं नही है जो कभी पृथ्वी पर घटी थीं, बल्कि आध्यात्मिक जीवन की विश्व-व्यापी प्रक्रिया है जो लगातार मानवात्माओं में घटती रहती है। और मानवात्मा के गर्भ में जो कुछ घटता है वह परमात्मा से सम्बन्धित होगा ही।

धर्म की उद्घोषणा सदा से यही रही है कि मनुष्य को स्वयं अपनी प्रकृति बदलनी चाहिए ताकि उसमें निहित दैवी तत्त्व उभर कर सामने आ सके। धर्म कहता है कि इस प्रकार सांसारिक इच्छाओं के अर्थ में मनुष्य की मृत्यु हो जायेगी और एक नये मानव का प्रादुर्भाव होगा। ऐसा केवल उपनिषद् और बौद्ध धर्म ही नहीं कहते, वरन् ईरानी रहस्यवादियों, प्लेटो और ईसाई धर्म-पुस्तकों का भी यही कथन है। प्लोटिनस का सकेत भी इसी की ओर है जब वह कहता है, "यह सिद्धांत नया नहीं है; यह अनादि काल से प्रचलित रहा है—हालाँकि प्रारम्भ में यह बहुत स्पष्ट और विकसित रूप मे नही था। हम तो केवल प्राचीन सन्तों की मान्यताओं की व्याख्या भर करना चाहते हैं और प्लेटो की गवाही के आधार पर यह दिखाना चाहते हैं कि उनके भी वही विचार थे जो आज हमारे हैं।" यही वह धर्म है जिसका उल्लेख आगस्टाइन अपने प्रसिद्ध कथन में करता है: "जिसे आज हम ईसाई धर्म कहते हैं वह प्राचीनों में भी प्रचलित था। सच तो यह है कि इसका अस्तित्व सृष्टि के प्रारम्भ से ही रहा है, केवल इसे ईसाइयत नाम ईसामसीह के बाद दिया जाने लगा।" सत्य यह एक ही है, जो हमसे विभिन्न भाषाओं में, दूरन्त देशों में और विभिन्न युगों में यही एक बात कहता है। जो लोग सब धर्मों के इस मूल शाश्वत धर्म, इस सनातन धर्म की उपेक्षा करते हैं औरबा ह्य रूपों से चिपके रहते हैं और परस्पर झगड़ते रहते हैं, वही हमारे आज

के सभ्य जीवन में पायी जाने वाली इस अस्तव्यस्तता और उपद्रव के लिए उत्तर-दायी हैं। हमारा कर्त्तव्य है कि धर्म के इस मूल तत्त्व की ओर फिर से लौट जायें; यही वह आधारभूत सिद्धान्त है जो समय के चक्र में पड़कर सम्प्रदाय और कट्टरतावादी मतों के कारण आज विकृत हो गया है।

जहाँ तक शरीर और मस्तिष्क, शक्ति और प्रवृत्ति, बुद्धि और रुचियों का सवाल है हम लोग एक दूसरे से नितान्त असमान हैं, लेकिन इन सबसे गहरे धरातल पर यानी उस आत्मिक धरातल पर जो हमारे अस्तित्व का मूल आधार है, हमलोग परस्पर एक समान हैं। अगर धर्म को मानव-क्रिया-कलापों में एक प्रभावक शक्ति का कार्य करना है, अगर इसे नयी दुनिया के लिए आधार का काम करना है, तो इसे अधिक अन्तर्मुखी और अधिक विश्वव्यापी बनना होगा; एक ऐसी अग्नि-शिखा बनना होगा जो हमारे अन्तस् को शुद्ध करती है और इस तरह संसार को भी शुद्ध करती है। मानव से मानव को पृथक करने वाली दीवालें ढह जायेंगी, भेद-भाव मिट जायेंगे, सब भाई-भाई के समान मिल-जुलकर एक साथ आगे बढ़ेंगे और सारे संसार के लोगों के लिए एक विश्व-धर्म की स्थापना होगी और तब जार्ज बर्नार्ड शा के नाटकीय पात्र सेन्ट जोन की यह पुकार पूरी होगी : "ओ परमात्मा, वह दिन कब आयेगा जब यह सुन्दर सृष्टि तुम्हारे संतों का स्वागत करने योग्य होगी ?" वह समय तब आयेगा जब यह संसार ऐसे मनुष्यों का निवास-स्थान होगा जिनमें तन और मन की कोई खामी नहीं होगी, जो केवल रोग और व्याधि से ही मुक्त नहीं होंगे वरन् असत्य से भी दूर रहेंगे, और जहाँ घृणा प्यार में बदल जायेगी। जब मनुष्य पूर्णत्व की ओर बढ़ेंगे, उस अदृश्य जगत की ओर अग्रसर होंगे जिसे हम स्वर्ग के नाम से जानते हैं, तभी वे अपने अन्दर के राज्य को इस बाहरी दुनिया में व्यक्त करेंगे। उस दिन हम ईश्वर के सम्बन्ध में कट्टरतावादी मतों का त्याग कर देंगे, उसकी प्रकृति के बारे में परस्पर झगड़ना छोड़ देंगे, और हर मनुष्य को इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता रहेगी कि वह अपनी इच्छानुसार ईश्वर को माने, उसकी आराधना करे, उसे महसूस करे या प्राप्त करे।

●

यह सच है कि केवल यात्रा के लिए यात्रा करने की ओर मेरी रुचि कभी नहीं रही, फिर भी मैंने सफ़र बहुत किया है और घर से दूर इंगलैण्ड, फ्रांस, अमेरिका और रूस आदि देशों में रहा हूँ। कुछ वर्षों के लिए तो मुझे काफ़ी लम्बी-लम्बी अवधियों तक इंगलैण्ड में रहने का मौक़ा मिला है और अंग्रेज़ों के जातिगत गुणों

—जैसे उनकी न्यायप्रियता, व्यावहारिकता और दलितों के प्रति उनकी सहानुभूति आदि—ने मुझे काफ़ी प्रभावित किया। इसी प्रकार, रूसी शासन के प्रति कोई कुछ भी विचार-वैभिन्य क्यों न रखे, यह निर्विवाद सत्य है कि वहाँ के लोग दयालु और शान्तिप्रिय हैं, और किसी भी दूसरे देश के व्यक्तियों की तरह उनका जीवन भी हँसी और रुदन, प्यार और घृणा की भावनाओं से स्पन्दित है। हालाँकि इन विदेशी देशों में मैं कभी जम न सका, मैं बहुत से लोगों के सम्पर्क में आया हूँ; छोटे और बड़े सभी प्रकार के व्यक्तियों को और उनमें निहित मनुष्यत्व को मैंने पहिचाना है। दुनिया के लोगों में कोई आधारभूत भेद या विभिन्नता कहीं नहीं पायी जाती। सबमें गहरी मानवीय भावनाएँ पायी जाती हैं; वर्ग-स्वार्थों से ऊपर न्याय की चाह पायी जाती है, हिंसा और खून-खराबी से सभी भय खाते हैं। वे एक ऐसे धर्म के लिए कार्य कर रहे हैं जो मनुष्य मात्र को यह बतलाता है कि वह किस प्रकार स्वयं अपने साथ, प्रकृति के साथ और अपने साथी - बंधुओं के साथ हिल-मिल सकता है; इतना ही नहीं बल्कि यह भी सिखाता है कि मनुष्य किस प्रकार परमात्मा के साथ एकाकार हो सकता है, जिसका व्यक्त रूप ही यह दृश्य जगत् है। हमारे ऐतिहासिक धर्मों को इस विश्वव्यापी आस्था में परिवर्तित होना ही होगा, अन्यथा वे नष्ट हो जाएँगे। यह स्थिति कुछ लोगों को अजीब और अरुचिकर भले ही लगे, लेकिन इसका एक अपना सत्य और सुन्दर पक्ष है। यह धर्म मानव-मस्तिष्कों में क्रियाशील है और शीघ्र ही एक जाने-माने सत्य के रूप में स्वीकार कर लिया जायेगा। मानवीय एकता बीते हुए उत्पत्ति सिद्धांतों पर निर्भर नहीं होती, बल्कि इस बात पर होती है कि हमारी भावी दिशा और लक्ष्य क्या है, हम क्या बन रहे हैं और किधर बढ़ रहे हैं। इसके लिए हमें आज के विज्ञान का शुक्रगुज़ार होना चाहिए कि, आज जो सभ्यता दुनिया के परदे पर फैल रही है उसकी तुलना में प्राचीन सभ्यताएँ साधनों और संभावनाओं में बहुत सीमित थीं। वैज्ञानिकों का यह कहना है कि जीव-मात्र का अस्तित्व करीब १२० करोड़ वर्ष पहले इस पृथ्वी पर प्रादुर्भूत हुआ था, लेकिन मनुष्य केवल पिछले ५ लाख वर्षों से ही अस्तित्व में आया है; उसकी सभ्यता तो केवल पिछले दस हजार वर्षों की ही देन है। मनुष्य अभी केवल अपनी बाल्यावस्था में ही है और इस पृथ्वी पर अभी उसके सामने जीने के लिए एक लम्बी अवधि और पड़ी है। इस बीच वह निश्चित रूप से अधिक ऊँचे लक्ष्यों की प्राप्ति करेगा, और "वसुधैव कुटुम्बकम्" के सिद्धान्त को मानने वाले स्त्री और पुरुषों का निर्माण करेगा।

यह सनातन धर्म अवैज्ञानिक या अबौद्धिक नहीं है, और न यह पलायनवादी या असामाजिक ही है। इसकी स्वीकृति से हमारी बहुत-सी टेढ़ी समस्याएँ सुलझ जायेंगी और सद्भावना-पूर्ण मनुष्यों को इससे शान्ति प्राप्त होगी।

यही मेरा जीवन-दर्शन है जिसे मैंने अनेक रास्तों पर चलकर अपनाया है। इस दर्शन ने मुझे कई कठिन परीक्षाओं में बल दिया है; रोग-शोक, हार-जीत में यह मेरे लिए बराबर एक सहारा रहा है। भले ही हम यह मान कर न चलें कि आस्था की जीत होती ही है, लेकिन कम से कम हम यह तो मान कर चल ही सकते हैं कि इसकी विजय के लिए हमें प्रयत्न करना चाहिए।

पाप के प्रति–वैज्ञानिक दृष्टिकोण

डॉ बर्ट्रेण्ड रसेल

●

अँग्रेज दार्शनिक, गणितज्ञ और समाज-शास्त्री। जन्म १८ मई १८७२, ट्रेलेक, वेल्स में रसेल घराना इंगलैंड के प्राचीनतम प्रतिष्ठित घरानों में है। रसेल के माँ-बाप की मृत्यु बहुत जल्दी हो गयी, और कुल ३ वर्ष की आयु में रसेल अनाथ हो गये थे। १९३१ में अपने बड़े भाई की मृत्यु के बाद रसेल को लार्ड की पारिवारिक उपाधि प्राप्त हुई, मगर उन्होंने सदा ही स्वयं को सिर्फ बर्ट्रेण्ड रसेल के नाम से पुकारा जाना पसंद किया है।

शिक्षा दीक्षा घर पर ही हुई। घरवाले चाहते थे कि वे राजनीति को अपना कार्य-क्षेत्र बनायें, लेकिन रसेल की रुचि गणित और दर्शन की ओर थी; बाद में उनकी रुचि का तीसरा विषय समाज-शास्त्र भी हो गया। गणित-शास्त्र के क्षेत्र में रसेल की देन बहुत शास्त्रीय ढंग की होने के कारण लोकप्रिय नहीं हो सकी है, लेकिन उसकी महानता निर्विवाद है। 'प्रिंसिपिया मेथेमेटिका' अपने ढंग का अपूर्व ग्रंथ है, जो रसेल ने ए० एन० ह्वाइटहैड के सहयोग में लिखा था।

द्वितीय महायुद्ध की हलचलों ने रसेल को गणित और दर्शन के अलावा समाजशास्त्र, राजनीति, नैतिकता और शिक्षा-सम्बंधी सामान्य जन-रुचि की समस्याओं पर भी सोचने और लिखने के लिए मजबूर कर दिया।

रसेल पेकिंग विश्वविद्यालय, शिकागो विश्वविद्यालय, न्यूयार्क और हारवर्ड विश्वविद्यालयों में भी दर्शन-शास्त्र के प्राध्यापक रहे हैं।

न चाहते हुए भी, रसेल अपने जीवन में सदा किसी न किसी विवाद या आन्दोलन से सम्बंधित रहे हैं। आजकल, इस वृद्धावस्था में भी, रसेल परमाणु-परीक्षणों के विरोध में चलाये जानेवाले आन्दोलन से सम्बंधित हैं।

रसेल की रुचि का क्षेत्र क्रमशः बदलता रहा है, जैसा कि उन्होंने स्वयं भी एकबार सनक में आकर १९५१ में कहा था : "बीस वर्ष की आयु के बाद से मेरी बौद्धिक शक्ति क्रमशः क्षीण होती गई है। जब मैं युवा था तो मेरी रुचि गणित में थी; जब मुझे गणित-विद्या बहुत मुश्किल लगने लगी तो मैंने दर्शन को अपना क्षेत्र बनाया, और जब दर्शन भी

१६ पाप के प्रति—वैज्ञानिक दृष्टिकोण

मुझे कठिन लगने लगा, तो मैं राजनीति की ओर मुड़ गया। उसके बाद तो मैंने जासूसी कहानियों के लेखन में ही अपनी शक्ति केन्द्रित कर दी है।"

१९५० में रसेल को साहित्य का नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया।

प्रस्तुत निबंध 'आइ बिलीव' संकलन में प्रकाशित रसेल के विस्तृत लेख का संक्षिप्त-रूपान्तर है।

पाप के प्रति हमारा दृष्टिकोण सदा एकरूप नहीं रहा है। प्राचीन और मध्य-युग में पाप के मनोविज्ञान को जिस परम्परावादी धार्मिक दृष्टिकोण से देखा जाता था, उसे आज का कोई मनोवैज्ञानिक स्वीकार नहीं करता। उस परम्परा-वादी दृष्टिकोण के अनुसार सोचा जाता था कि जिस कार्य को व्यक्ति का विवेक पापमय समझता है उसे करने के बाद उस व्यक्ति को पश्चात्ताप होता है। आज के युग में, बहुत-कुछ आधुनिक मनोविश्लेषण के प्रभाव के कारण, हम इसके ठीक विपरीत दिशा में सोचने लगे हैं। ऐसा केवल अपरम्परावादी ही नहीं करते, वरन् वे भी करते हैं जो स्वयं को परम्परावादी क़रार देते हैं। आज विवेक को रहस्य का बाना नहीं पहिनाया जाता, इसीलिए उसे आज परमात्मा की आवाज़ भी नहीं समझा जाता। सच तो यह है कि 'विवेक' में कई भावनाएँ अन्तर्हित हैं, जिनमें सर्वप्रथम है बात के खुल जाने के भय की प्रवृत्ति। उदाहरणार्थ, आप किसी ऐसे व्यक्ति को ले सकते हैं जिसने कभी कोई पाप या अपराध किया था, और जिसे बाद में यह भय हुआ कि उसका भेद खुलने वाला है, तो आपने देखा होगा कि वह व्यक्ति अपने कार्य के लिए पश्चात्ताप करता है। मैं यह नहीं कहता कि यह बात व्यावसायिक चोरों पर भी लागू होती है। मेरा आशय ऐसे सम्माननीय व्यक्तियों से है जैसे कोई बैंक-मैनेजर, जिसने किसी अभागे क्षण में आवश्यकता के वशीभूत हो ग़बन किया हो; अथवा कोई पादरी, जिसने क्षणिक लालसा में बहकर सेक्स सम्बन्धी कोई ग़लत क़दम उठाया हो। अगर पकड़े जाने की संभावना न हो तो ऐसे व्यक्ति अपने किये हुए पाप को आसानी से भूल जाते हैं, लेकिन जब वे सचमुच पकड़े जाते हैं या पकड़े जाने का वास्तविक ख़तरा देखते हैं तब पछताते हैं कि उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था, और उन्हें अपने पाप अथवा अपराध की भयानकता का आभास होता है। उन्हें यह सोचकर दारुण मानसिक पीड़ा होती है कि अपने इस कृत्य के कारण वे समाज को क्या मुँह दिखायेंगे।

लेकिन अपने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रूपों में, पाप की चेतना इससे अधिक गहराई में उतरती है। इसका सम्बन्ध व्यक्ति के अवचेतन से है। कुछ ऐसे कार्य हैं जिन्हें व्यक्ति का चेतन मस्तिष्क पापपूर्ण समझता है, हालाँकि आत्म-निरीक्षण करने पर इस धारणा का कोई स्पष्ट कारण उसे नहीं मिलता। ऐसे 'पापपूर्ण' कार्यों को करने पर उसे कुछ बेचैनी-सी महसूस होती है, लेकिन वह इस बेचैनी का कारण नहीं जानता। वह इच्छा करता है कि जिस कार्य को वह पाप समझता है उससे बचे; मगर दैनन्दिन जीवन में वह इस इच्छा के अनुसार रह नहीं पाता, और परिणामतः, एक प्रकार के अपराध की चेतना से उसका जीवन दबा रहता है।

इस प्रकार की स्थिति के लिए ज़िम्मेदार वह नैतिक शिक्षा है जो व्यक्ति अपनी बाल्यावस्था में अपनी माँ या नर्स के द्वारा प्राप्त करता है। ६ वर्ष होने के पूर्व ही, उसके मस्तिष्क में यह बात बैठा दी जाती है कि क़सम खाना बुरा है, कि सभ्य और सुसंस्कृत व्यक्ति द्वारा बोली जानेवाली भाषा के अलावा किसी और प्रकार की भाषा का उपयोग अनुचित है, कि केवल बुरे आदमी ही शराब पीते हैं, और तम्बाकू का उपयोग एक दुर्गुण है। उसे सिखाया जाता है कि झूठ कभी नहीं बोलना चाहिये। सबसे अधिक जोर इस बात पर दिया जाता है कि यौन अंगों में किसी भी तरह की रुचि लेना घृणित है। इन धारणाओं को वह अपनी माँ के द्वारा प्राप्त करता है, और यह विश्वास करने लगता है कि उसके सृजनकर्त्ता ईश्वर के भी यही विचार हैं। इस अवस्था में अपनी माँ का स्नेह प्राप्त करना ही उसके जीवन का सबसे बड़ा आनन्द रहता है, और वह जानता है कि अगर वह इन नैतिक धारणाओं का उल्लंघन करता हुआ पाया गया तो उसके साथ किया जानेवाला यह स्नेहपूर्ण व्यवहार बंद हो जायेगा। इसलिए एक अस्पष्ट भय उसके मन पर सदैव छाया रहता है कि वह कहीं कोई ऐसा कार्य न करे जिसे उसकी माँ या नर्स नापसंद करती हों। धीरे-धीरे, ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता है, वह भूलता जाता है कि इन नैतिक धारणाओं का मूल स्रोत क्या था,और इनका उल्लंघन करने पर मिलनेवाला दण्ड क्या था; लेकिन वह बड़ा होने पर भी इस भावना से छुटकारा नहीं पा सकता कि इन नैतिक विधानों का उल्लंघन करने पर उसे कोई भयानक सज़ा भुगतनी पड़ेगी।

इस बाल्यकालीन नैतिक शिक्षा का अधिकांश भाग बौद्धिक आधार पर टिका हुआ नहीं रहता और इसीलिए जन-साधारण के दैनन्दिन जीवन पर लागू नहीं किया जा सकता। मसलन्, हम ख़राब भाषा बोलनेवाले व्यक्ति को बौद्धिकता की

दृष्टि से ख़राब भाषा न बोलने वाले व्यक्ति से अच्छा नहीं मानते। यही बात शराब और तम्बाकू पीने और नहीं पीने, तथा झूठ बोलने और नहीं बोलनेवालों पर भी लागू होती है। किसी निरीह प्राणी को शिकारियों से बचाने के लिए अगर मैं झूठ बोलता हूँ, तो मैं नहीं समझता कि मैंने कोई बुरा काम किया है।

इस प्रारम्भिक नैतिक शिक्षा ने हमें सबसे अधिक हानि सेक्स के क्षेत्र में पहुँचायी है। अगर बच्चे को यह शिक्षा खूब कड़े माँ-बाप अथवा नर्स द्वारा दी गयी है, तो सेक्स को पाप समझने की धारणा छः वर्ष के पूर्व ही उसके मन पर इस दृढ़ता से जम जाती है कि ज़िन्दगी भर इससे छुटकारा नहीं मिल सकता। परिणाम यह होता है कि उसका समूचा जीवन विकृतियों और कुण्ठाओं से अभिशप्त हो जाता है। हमारी समस्या यही है कि एक वयस्क व्यक्ति अपने ऊपर व्याप्त पाप की इस चेतना के प्रभाव को किस प्रकार दूर करे।

यहीं पर अवचेतन का प्रश्न उठता है। ये ग़लत नैतिक धारणाएँ हमारे अवचेतन में आसन जमाये रहती हैं। हमें चाहिए कि हम अपने अवचेतन को इस बात के लिए मजबूर करें कि वह हमारे चेतन मस्तिष्क के तर्कसंगत और बुद्धिपूर्ण विचारों को ग्रहण करना सीखे। हमारे चेतन मस्तिष्क के ये विचार इतने स्पष्ट और शक्तिशाली होने चाहिएँ कि, हमारे अवचेतन पर बाल्यकाल से बैठी हुई माँ या नर्स द्वारा सिखायी हुई नैतिक धारणाओं से सफलतापूर्वक लोहा ले सकें। हमें बुद्धि की कसौटी पर इन्हें निर्ममतापूर्वक कसना चाहिए, और इन्हें कभी इसका मौका ही नहीं देना चाहिए कि ये ऊपर उठकर हमारे चेतन मस्तिष्क पर प्रभाव डाल सकें। जब कभी ये ऐसा करने की कोशिश करें तो हमें दृढ़तापूर्वक इनको वापस नीचे ढकेल देना चाहिए। भूल जाइये कि ये धारणाएँ आपको अपनी माँ या नर्स द्वारा प्राप्त हुई हैं, जिन्हें आप बचपन में स्नेह और श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। तब आप कमज़ोर थे, इसीलिए आप उनके द्वारा दी गयी शिक्षा को स्नेह और सम्मान की दृष्टि से देखते थे। अब आप अपनी विकसित बुद्धि द्वारा इनकी जाँच करेंगे तो इनकी अर्थहीनता स्वयं स्पष्ट होती चली जायेगी। इन मूर्खतापूर्ण नैतिक धारणाओं की अपेक्षा कुछ अन्य कार्य हैं जो जन-साधारण के दैनन्दिन जीवन में ज़हर घोलते हैं,मसलन्, अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के साथ अशिष्टता का व्यवहार, पत्नी और बच्चों के साथ क्रूर वर्ताव, राजनैतिक विचार-वैभिन्य में कट्टरता। सचमुच में, पाप तो ये हैं जो आज के सभ्य और प्रतिष्ठित समझे जाने वाले समाज के प्राणियों में बहुतायत से पाये जाते हैं। लेकिन दुर्भाग्य की बात तो यही है कि

हम इनकी ओर ध्यान नहीं देते, और बचपन में ज़बर्दस्ती लादी गयी अनावश्यक नैतिक धारणाओं को लेकर अपने जीवन को दुःखी बनाये रखते हैं। सच तो यह है कि इस निरर्थक नैतिकता के जन्मदाता पादरी और मानसिक रूप से ग़ुलामी का जीवन बिताने वाली औरतें थीं। अब समय आ गया है कि हम इस वाहियात नैतिकता के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा करें; लेकिन यह विद्रोह तभी सफल हो सकता है जब हर व्यक्ति अपने विचारशील मस्तिष्क की आवाज़ को ध्यान से सुने, और उसी के अनुसार कार्य करे।

●

यह सोचना ग़लत है कि पाप की चेतना से आगे का जीवन सुधरता है; दरअसल, होता इसके विपरीत ही है। यह अहसास कि आपने कोई पाप किया है, आपको केवल दुःख ही नहीं देता, बल्कि आप अपनी ही दृष्टि में स्वयं को छोटा महसूस करने लगते हैं। स्वयं दुःखी होने पर आप स्वभावतः दूसरों के साथ खुलकर हँस-बोल नहीं सकेंगे। हीन-भावना के कारण आप दूसरों के प्रति बराबर एक शिकायत का रुख़ रखेंगे। दूसरों के अच्छे कार्यों की भी प्रशंसा करना आपको कठिन लगेगा और ईर्ष्या करना सहज-सरल। आख़िर एक ऐसी स्थिति आयेगी जब आप नदी के द्वीप की तरह धारा से कटकर स्वयं को अकेला महसूस करने लगेंगे। आप एक प्रकार के आत्म-पीड़न और मानसिक संघर्ष में उलझे रहेंगे, स्वयं से लड़ते रहेंगे। व्यक्ति को दुःखी बनाने और उसकी योग्यता को घटाने का इससे बड़ा दूसरा कोई कारण नहीं होता। अपने व्यक्तित्व के विभिन्न अंगों में एकरूपता लाने में ख़र्च किया गया समय बेकार नष्ट हुआ नहीं समझना चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति यह दृढ़ निश्चय कर ले कि, वह अपने बुद्धिजन्य विश्वासों पर अपने अवचेतन के भावनात्मक विश्वासों को कभी हावी नहीं होने देगा, एक क्षण के लिए भी अपने ऊपर उनका असर नहीं होने देगा।

●

कुछ व्यक्ति विचारशीलता को ही नापसन्द करते हैं। उनका ऐसा ख़याल है कि विचारशीलता पर अधिक ज़ोर देने से कोमल और गहरी भावनाएँ मर जायेंगी। यह सोचना ग़लत है। यह सच है कि विचारशील मनोविज्ञान घृणा और ईर्ष्या को कम करने के रास्ते सुझाता है, लेकिन यह सोचना ग़लत है कि वह इनके साथ-साथ उन भावनाओं को भी घटाता है जो विचारशीलता के प्रतिकूल नहीं हैं, मसलन्, दाम्पत्य प्रेम, वात्सल्य, मित्रता, करुणा, विज्ञान या

कला के प्रति लगन जैसी भावनाएँ। जब किसी विचारशील मनुष्य को इनमें से एक या सभी भावनाओं की अनुभूति होती है, तो उसे इससे खुशी ही होती है और वह इनका असर कम करने की कोशिश नहीं करता,क्योंकि वह जानता है कि ये भावनाएँ अच्छे जीवन की आवश्यक शर्तें हैं—ऐसा जीवन जो केवल स्वयं को ही नहीं, दूसरों को भी सुखी बनाता है। यह भय भी निराधार ही है कि विचार-शीलता मनुष्य के जीवन को नीरस बना देती है। इसके विपरीत, चूँकि विचार-शीलता व्यक्ति को आन्तरिक एकरूपता प्राप्त करने में सहयोग देती है, ऐसा व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को वाह्य उद्देश्यों की प्राप्ति में लगा सकता है, जब कि आन्तरिक संघर्षों का शिकार व्यक्ति सदैव स्वयं से ही उलझा रहता है। जिस तरह स्वयं में ही सिमटे रहने से अधिक नीरस कोई अन्य कार्य नहीं, उसी तरह अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को कर्मक्षेत्र में लगाने से अधिक आह्लादक भी कोई दूसरा कार्य नहीं।

●

हमारी परम्परावादी नैतिकता अनावश्यक रूप से आत्मकेन्द्रित रही है, और पापवाला यह सिद्धान्त इसी का एक अंग है। जो व्यक्ति इस ग़लत नैतिकता के प्रभाव में आकर आत्म-पीडाओं का शिकार नहीं हुआ है, उसके लिए विचार की आवश्यकता भले ही न हो, लेकिन जो एक बार इस बीमारी की चंगुल में फँस चुके हैं, उनके लिए स्वस्थ होने का एकमात्र उपाय यह विचारशीलता ही है। ऐसा व्यक्ति जो स्वयं से ही लड़ता रहता है, सदैव तीव्र अनुभूतियों को पसंद करता है इसलिए कि वे उसे उस क्षण के लिए 'मैं' के घेरे से बाहर ले जाती हैं, और इस तरह उसे विचारशीलता की कष्टदायी आवश्यकता से मुक्ति दिला देती हैं। कोई भी तीखी अनुभूति उसके लिए नशे का कार्य करती है, और चूँकि वह वास्तविक आनन्द-प्राप्ति की कल्पना भी नहीं कर सकता, उसे अपनी आत्मपीड़ा से छुटकारा पाने का एकमात्र रास्ता इसी नशे के रूप में दिखायी देता है। यह गहरी जड़ें जमाकर बैठी हुई बीमारी का ही लक्षण है। जो व्यक्ति इस बीमारी से मुक्त है, वह अपनी शक्तियों को पूर्ण आधिपत्य में रख सकता है, और उसी को वास्तविक आनन्द की अनुभूति हो सकती है। जो आनन्द नशे पर आधारित है, वह सदैव झूठा और असंतोषजनक साबित होता है। वास्तविक अर्थों में वही सच्चा आनन्द कहा जा सकता है जो हमारी शक्तियों के सम्पूर्ण उपयोग से, तथा जिस संसार में हम रहते हैं उसके साथ पूरी तरह घुल-मिलकर, प्राप्त किया जाता है।

मैं और जीवन के प्रति मेरी धारणा

डॉ० हैवलाक एलिस

●

यौन मनोवैज्ञानिक। जन्म क्रोयडन, सरे में २ फरवरी १८५९। कुल ६ वर्ष की आयु में वे अपने पिता के साथ आस्ट्रेलिया और दक्षिण अमेरिका के भ्रमण पर गये थे। प्रारम्भिक रुचि संगीत में थी। १६ वर्ष की आयु में पुनः आस्ट्रेलिया गये और १८७५ से १८७९ तक का समय वहाँ एक गाँव के स्कूल मास्टर के रूप में बिताया। उनका एक-मात्र उपन्यास 'कांगा क्रोक' इसी समय के अनुभवों पर आधारित है। इन्हीं दिनों इनकी रुचि समाज-दर्शन की ओर हुई, लेकिन इन्होंने महसूस किया कि इसके लिए वैज्ञानिक आधार का होना आवश्यक है, अस्तु डाक्टरी पढ़ने के लिए इंगलैण्ड लौट आये, और सेण्ट टामस हास्पिटल, लण्डन में दाखिला ले लिया।

लेकिन डाक्टरी की प्रैक्टिस भी इन्होंने कुछ ही वर्षों की, और क्रमशः इनकी रुचि मनोविज्ञान, बल्कि विशेषकर यौन मनोविज्ञान, में केन्द्रित हो गयी। इन्होंने इस क्षेत्र की अपनी महान् कृति 'स्टडीज इन द साइकोलौजी आफ़ सेक्स' का प्रारंभ १८९१ में किया, और एक के बाद दूसरा करके इसके भाग प्रकाशित होना शुरू हुए। लेकिन इस ग्रंथ की अश्लीलता के लिये प्रकाशक पर मुक़दमा चला, और परिणामस्वरूप हैवलाक एलिस ने इसके बाद इस विषय के अपने ग्रंथों के प्रकाशन की अमरीका में व्यवस्था कर ली। इन ग्रंथों में व्यक्त विचार आज पुराने पड़ चुके हैं, और अपने प्रथम प्रकाशन के समय भी इनमें खामियाँ थीं, लेकिन फिर भी यह निर्विवाद है कि जन-सामान्य के यौन संबंधी दृष्टिकोण को बदलने में हैवलाक एलिस जितना बड़ा कार्य और किसी ने नहीं किया।

अपने पीड़ापूर्ण वैवाहिक जीवन का वर्णन एलिस ने अपनी संक्षिप्त आत्मकथा में किया है जिसका प्रकाशन उनकी मृत्यु के ठीक पूर्व हुआ था। इस आत्मकथा से पता चलता है कि जो व्यक्ति अपने जीवन भर उचित और बुद्धिमत्तापूर्ण यौन-सम्बंधों का प्रतिनिधि व्याख्याता और प्रतीक माना जाता रहा, उसीका स्वयं अपना यौन-जीवन नितांत दुःखी और असफल था।

हैवलाक एलिस का जीवन बाहर से देखने पर घटना-विहीन, अध्ययनशील और परिश्रम-साध्य था। १९३९ की ग्रीष्म ऋतु में, ८० वर्ष की आयु में, उनकी मृत्यु हुई।

एच०एल० मेन्केन ने हैवलाक एलिस को अपने समय का सर्वाधिक सभ्य अंग्रेज बताया था। यौन-विज्ञान का डार्विन तो उन्हें सर्व-सम्मति से माना ही जाता रहा है।

प्रस्तुत रचना 'आइ बिलीव' नामक संकलन में प्रकाशित उनके विस्तृत लेख का संक्षिप्त-रूपान्तर है।

दर्शन एक ऐसी बौद्धिक धारणा है, जो इस जगत् के सम्बन्ध में व्यक्ति अपने मन में बनाता है। इस रूप में, यह उसके जीवन के रहने के रंग-ढंग को सीधे भले ही प्रभावित न करे, जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण को प्रभावित किये बिना नहीं रहती। लेकिन मैं यह स्वीकार नहीं करूँगा कि, दर्शन और नैतिकता एक ही चीज़ है, और उदाहरण के लिए, यह मानते हुए भी कि, 'ईमानदारी सर्वोत्तम नीति है' वाला सिद्धान्त एक व्यवसायी के लिए वेद-वाक्य हो सकता है, इसे एक सर्वमान्य दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

●

अपनी पीढ़ी के और लोगों की तरह, मेरा भी लालन-पालन एक धार्मिक वातावरण वाले परिवार में हुआ था। मैं अपने माँ-बाप का इकलौता पुत्र था। मेरी माँ केवल परम्परा के लिए ही नहीं, वरन् सही मायनों में और मन से, धार्मिक प्रवृत्ति की थीं। हालाँकि मैंने अपने पिता की भी कई चारित्रिक विशेषताएँ उत्तराधिकार में पायी थीं, लेकिन वस्तुतः मैं अपनी माँ का ही बेटा था। मेरी जेब में हरदम बाइबिल का लघु-संस्करण रहता था, और बन्यान का 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' मैंने पूरा पढ़ा था। मेरा यह मतलब नहीं कि मैं एकदम सीधा-सादा लड़का ही था। दरअसल, मैं इतना अधिक अपने में सीमित रहने वाला लड़का था कि, अपने आन्तरिक विचारों को अपने सहपाठियों पर कभी प्रकट नहीं करता था, और चूँकि मेरे साथी इतने जिज्ञासु और कुटिल नहीं थे कि खोद-खोद कर हर बात पूछते, और उनके सामने ही अपनी आकांक्षाओं को प्रकट करने का कोई अवसर मिलता। यथासमय गिरजे की परम्परागत रीति के अनुसार मेरा नामकरण-संस्कार हुआ, और मुझे इसमें कुछ भी अस्वाभाविक नहीं लगा। लेकिन इस बीच पुस्तकें पढ़ने की, विशेषकर सभी तरह की गंभीर पुस्तकें पढ़ने की, मेरी अनन्त बौद्धिक पिपासा बढ़ती जा रही थी। मैंने रेनान लिखित 'लाइफ़ आफ़ जीज़स' का एक सस्ता संस्करण भी खरीदा। इस पुस्तक में ईसा का वर्णन

जिस सहृदयता और बिना किसी प्रकार के आधिभौतिक तत्त्वों के किया गया था, वह मेरे लिए सर्वथा एक नया अनुभव था। मैंने उसे रुचि से, और साथ ही आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़ा, और हाशिये पर अपनी टिप्पणियाँ भी लिखीं। लेकिन उस समय मैंने यह महसूस नहीं किया था कि रेनान का दृष्टिकोण मेरी प्रकृति के कितना निकट था। फिर भी, मेरा यह रुख अधिक समय तक नहीं रहा; और जल्दी ही इस तरह के दृष्टिकोण वाली पुस्तकों में मेरा विश्वास जमने लगा, और ईसाइयत के आधिभौतिक आधार तथा अलौकिक अध्यात्मवाद के सिद्धान्तों को मैंने बौद्धिकता की दृष्टि से अमान्य मान लिया। मेरी इस मान्यता ने किसी सक्रिय विरोध का रूप नहीं लिया, न बन्धनों से स्वतन्त्रता पाने की ओर ही मुझे उन्मुख किया। अब भी मेरा जीवन उसी पुराने ढर्रे पर चलता रहा। लेकिन मुझे कुछ खो जाने का बोध था। मेरी कल्पना का अलौकिक जगत् अदृश्य हो गया था, और अब मेरे पास कोई आध्यात्मिक आधार नहीं रहा था। लगातार, और विभिन्न प्रकार की मानसिक गति-विधियों के बावजूद, मुझे गाहे-बगाहे एकाकीपन और अवसाद के मूड्स का शिकार होना पड़ता था। मेरी यह स्थिति सत्रह वर्ष से उन्नीस वर्ष की उम्र तक रही।

अपने मानसिक निर्माण की अवधि में मैंने दर्शन पर बहुत सोचा-विचारा। मैं यह महसूस कर रहा था कि हर व्यक्ति की अपनी एक दार्शनिक पद्धति होनी चाहिए, और मैं उससे वंचित था। मैंने कई दार्शनिक ग्रंथ खरीदे, जिनमें स्पिनोज़ा की सभी पुस्तकें, और उस समय तक दर्शन पर लिखे हुए सभी स्तरीय इतिहास प्रमुख थे। प्रमुख अँगरेज़ी दार्शनिक पत्र 'माइण्ड' का मैं नियमित पाठक था, और मैंने हिण्टन के बाद के विचारों का अध्ययन प्रस्तुत करने वाला एक खासा लम्बा-चौड़ा लेख लिखा और 'माइण्ड' के सम्पादक प्रो० क्रुम राबर्टसन के पास भेजा जिन्होंने बड़े दोस्ताना ढंग से उसका स्वागत किया, (हालाँकि मैं उनके लिए नितान्त अजनबी था!) और तत्काल उसे प्रकाशित भी किया। यह सन् १८८४ की बात है, जब मैं केवल पच्चीस वर्ष का था। इसके बाद ही संयोग से, मेरा परिचय एक प्रसिद्ध दार्शनिक से हुआ : यह टामस डेविड्सन थे। एक शाम उन्होंने अपनी दार्शनिक विचारधारा काफ़ी विस्तार से मुझे समझायी, और जितनी दिलचस्पी से मैं सुन रहा था, इससे उनको विश्वास हो गया था कि मैं उनका शिष्य बन जाऊँगा। लेकिन बाद में उन्हें जब पता लगा कि मेरा यह इरादा नहीं है, तो वे बहुत क्षुब्ध हुए, और उन्होंने मुझसे सारे सम्बन्ध विच्छेद कर लिये।

टामस डेविड्सन के साथ अपने सम्पर्क से मेरी इस पूर्व धारणा की पुष्टि

हो गयी कि दर्शन एक नितान्त व्यक्तिगत वस्तु है। एक सही दार्शनिक का सिद्धान्त उसके अपने संश्लिष्ट व्यक्तित्व का प्रतिफल होता है: इसे स्थानान्तर नहीं किया जा सकता। किन्हीं भी दो व्यक्तियों का, जो अपने विचारों के प्रति ईमानदार हों, एक दर्शन नहीं हो सकता।

●

इसके कुछ वर्ष बाद, जब मैं नीत्शे का अध्ययन कर रहा था, मैंने पाया कि उसने भी बहुत कुछ इसी तरह के विचार व्यक्त किये थे। सन् १८९६ में नीत्शे पर लिखे हुए अपने लेख में मैंने अपना दृष्टिकोण स्पष्टतः व्यक्त किया : "अन्य व्यक्ति के दर्शन को अपना बना लेने की बात उतनी ही अपमानजनक है जितनी कि अन्य व्यक्ति के उतारे हुए कपड़े पहनने की बात। ब्राउन को ही ब्राउनाइट और रोबिन्सन को रोबिन्सोनियन रहने दे। यह उचित नहीं कि वे परस्पर अपना दर्शन बदलें, या कि इनमें से कोई जोन्स पर अपने पारदर्शी वस्त्र लादने की कोशिश करे जब कि वह निरवस्त्र रहना ही पसन्द करता है। जिस दिन लोग इस बात की सचाई को महसूस करना शुरू कर देंगे उस दिन यह दुनिया पहले से कहीं अधिक सुखी, समृद्ध और ईमानदार हो जायेगी।" हालाँकि उन दिनों मैंने यह खोज स्वयं अपने आप ही की थी, आज यह एक तरह से सर्वमान्य सिद्धान्त बन चुका है। उदाहरणार्थ, पिछले दिनों बर्ट्रेण्ड रसेल ने भी स्पष्ट शब्दों में इसका प्रतिपादन किया है।

इस प्रकार उन दिनों मेरा यह विश्वास बन गया था कि हर चिन्तनशील व्यक्ति का अपना एक दर्शन भी होना चाहिए; लेकिन लगता है, स्वयं अपने लिए ऐसे एक दर्शन को उपलब्धि का प्रयास मैंने कभी नहीं किया। अब अरसे बाद, जब मैं पलटकर अपने जीवन की उस अवधि की ओर देखता हूँ, तो इसका कारण मेरी समझ में आता है। वह यह कि मेरी यह धारणा बन चुकी थी कि किसी भी व्यक्ति के दार्शनिक सिद्धान्त का निर्माण अवचेतन पद्धति द्वारा होता है; यह एक तरह का आध्यात्मिक विकास है, जो हमारे नियंत्रण से बाहर है, बल्कि हमारी चेतन सत्ता की परिधि से भी परे है।

●

जब मैं साठ वर्ष का था और अपनी पुस्तक 'डान्स आफ़ लाइफ़' के प्रकाशन की बात सोच रहा था, उस समय मुझे यह महसूस हुआ कि बिना कोई सचेत प्रयत्न किये ही मेरा दार्शनिक दृष्टिकोण बन चुका है। उस समय भी मुझे लगा था—हालाँकि इसमें बहुत कम दार्शनिक मुझसे सहमत होंगे—कि एक निश्चित और सचेत

दार्शनिक सिद्धान्त के निर्माण के लिए यह साठ वर्ष की अवस्था भी कुछ छोटी ही थी। वास्तव में, इसका निर्माण और विकास व्यक्ति के अनजान में, और बहुत धीरे-धीरे होना चाहिए; अन्यथा इसके कृत्रिम होने का डर रहता है, और यह आशंका रहती है कि, कहीं यह ऐसे आधारों पर न टिका हो जो उसके अपने व्यक्तित्व के सही परिणाम न हों।

मेरे अपने दार्शनिक सिद्धान्त के निर्धारण में, मुझे लगता है कि, जीवन के तत्त्वों में सामंजस्य के प्रयास का आग्रह प्रारम्भ से ही रहा है। जब मुझे पता लगा कि, जिस तरह का भावुक और धार्मिक जीवन मैं जी रहा था, उसमें और मेरे सशक्त बौद्धिक रुझान में विरोध की एक रेखा विद्यमान है, तो मुझे बहुत दुःख हुआ था। मेरे मित्रों को अपने मानसिक गठन में जब इसी तरह के विरोध का पता लगा था, तो उन्होंने प्रसन्नता से बौद्धिक पक्ष को चुन लिया था और भावात्मक धार्मिक माँगों को वे हिक़ारत की निगाह से देखते थे; लेकिन जहाँ तक जन-सामान्य का प्रश्न है, कहना निरर्थक ही होगा कि उनके भावुक और बौद्धिक पक्ष इतने सशक्त नहीं होते कि, उनमें किसी तरह के विरोध या संघर्ष का सवाल उठ खड़ा हो—परिणामतः उनका रुख शान्ति का होता है, उदासीनता का नहीं। मेरा अनुभव है कि, संवेदनशील बौद्धिकता वाले लोगों ने अक्सर मेरे 'शान्त' रुख की ओर संकेत किया है। यह मेरे किसी सचेत प्रयास का परिणाम नहीं है, और आन्तरिक शान्ति की भावना से मैं बराबर दूर ही रहा हूँ। लेकिन मैं यह मानने को ज़रूर प्रस्तुत हूँ कि विरोधी मानसिक तत्त्वों के समन्वय का स्वाभाविक परिणाम शान्तिपूर्ण रुख हो जाता है।

●

महायुद्ध के दिनों में, मैंने यह महसूस किया कि अपनी प्रकृति के दोनों विरोधी तत्त्वों में जिस समन्वय को उपलब्ध करने में मैं सफल हुआ था, वह वस्तुतः मेरे स्वभाव में गहरी जड़ जमाकर बैठी हुई विशेषता के उपयोग के ही कारण था। उन दिनों सैनिक अधिकारी, चाहे वे जर्मन हों या अँग्रेज़, संघर्ष और युद्ध को एक ही चीज़ समझने की भूल करते थे। मैंने महसूस किया कि, हालाँकि युद्ध संघर्ष का ही एक अनिवार्य रूप है, लेकिन साथ ही हमें संघर्ष को अधिक व्यापक अर्थ में लेना चाहिए, जिसमें विरोध के भी वे सभी प्रकार शामिल होते हैं, जो वस्तुतः युद्ध में नहीं होते। संघर्ष प्रकृति में भी है, लेकिन यह ऐसा फलदायक संघर्ष है जिसमें प्रत्येक विरोधी तत्त्व का अपना अलग महत्त्व हो सकता है। मैं यहाँ हेराक्लिटस के कथन को उद्धृत कर सकता हूँ कि, "संघर्ष सब चीज़ों को जनक है",

लेकिन जो संघर्ष हिंसात्मक होगा वह पितृवत् हो नहीं सकता। मैं जिस परिणाम पर पहुँचा था उसे, उसके अधिक व्यापक संदर्भों के साथ, मैंने अपने 'संघर्ष का दर्शन' नामक लेख में लिखा था, जिसे अपने दार्शनिक सिद्धान्त के प्रतिपादन की दृष्टि से मैं काफ़ी महत्त्वपूर्ण मानता हूँ।

शान्ति के जिन उपासकों ने सोचा था कि अधिक सभ्य तरीक़ों द्वारा राष्ट्रों के परस्पर विरोधों को दूर करके वे युद्ध का अन्त कर सकते हैं, और इस तरह संघर्ष की इतिश्री कर सकते हैं, उन्होंने एक ऐसी ग़लती की थी जो जीवन और जगत् के प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण के लिए घातक थी, ऐसा मुझे लगा।

हमें यह सिखाया जाता है कि विरोधी शक्तियों के आकर्षण-विकर्षण के, और विरोधी दिशाओं में खींच-तान के कारण ही हमारे ग्रहों-उपग्रहों की यह समूची व्यवस्था समन्वयपूर्ण ढंग से कार्य करने में सफल होती है। यही संघर्ष वनस्पति-जगत् में स्पष्टतर रूप में लक्षित होता है। विरोध का अस्तित्व जीवन के लिए कोई बाधा नहीं है, यह तो जीवन के सुचारु सम्पादन के लिए एक आवश्यकता है। वनस्पति-जगत् की इन विरोधी शक्तियों के अस्तित्व का ज्ञान मुझे हिण्टन की 'प्रकृति में जीवन' नामक पुस्तक से हुआ था। वनस्पति-जीवन पशु-जीवन से बहुत अधिक समानता रखता है--मेरा यह विश्वास अब क्रमशः बढ़ता ही जा रहा है। मैं देखता हूँ कि इन क्षेत्रों में शासन करने वाला विधान कितना अधिक समान है। मैं पाता हूँ, पौधे ठीक वैसा ही व्यवहार करते हैं, जैसा उन्हीं स्थितियों और सीमाओं में मैं स्वयं करता। विरोधी शक्तियों का यह विधान पशु - जगत् के जीवन के संचालन के लिए आवश्यक शर्त है, यह स्वतः सिद्ध है; और यह भी कि, यह विधान जीवन के अधिक उत्कृष्ट प्रकारों और रूपों में भी अधिक स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। इस प्रकार हम एकता की उस धारणा तक पहुँचते हैं, जिसे विश्व की संज्ञा दी गयी है। जिसे हम जीवन कहते हैं, उसका वस्तुतः सभी जगह अस्तित्व है।

●

बहुत अरसा बीत जाने के बाद, मैंने महसूस किया कि जिस समन्वयात्मक संघर्ष का बोध मुझे एक नितान्त भिन्न क्षेत्र में हुआ था वह सेक्स के क्षेत्र में भी पूर्णतः लागू होता है, जो कि मेरे जीवन का प्रमुख कार्य-क्षेत्र रहा है। मैंने इसका कोई स्पष्ट उल्लेख सन् १९३१ के पूर्व तक नहीं किया। उस समय प्रो० देल-नेग्रो ने, 'फ़ोरम फ़िलोसोफ़िकम' में सेक्स की समस्या के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए, इसे 'एण्टीनोमीस' (अधिकार-विरोध) की समस्या बतलाया, जिसका समाधान

मात्र समझौते के द्वारा ही सम्भव था। फ़ोरम के सम्पादक डॉ० स्मीत ने मुझसे इसका उत्तर लिखने के लिए आग्रह किया—(मेरा यही उत्तर बाद में मेरी पुस्तक "व्यूज़ एण्ड रिव्यूज़" के दूसरे संस्करण में भी संकलित हुआ था)। देल-नेग्रो का जीवन के आवश्यक तत्त्वों के बीच समझौते वाला सिद्धान्त मुझे मान्य नहीं था। अन्य क्षेत्रों की तरह, यहाँ भी, मैं विरोधी तत्त्वों के बीच समन्वयात्मक संघर्ष को साफ़ देखता था—वे विरोधी तत्त्व जिनमें प्रत्येक का अस्तित्व दूसरे के अस्तित्व के लिए केवल आवश्यक ही नहीं, वरन् सहायक भी है, जबकि समझौते का अर्थ महज़ दुर्बलता होता। सेक्स की समूची कार्य-प्रणाली इसी संघर्ष की पुष्टि करती हुई प्रतीत होती है—शारीरिक विरोधों से लेकर 'कोर्टशिप' का प्रेम-सम्बन्धी संघर्ष, और सेक्स के प्रति रुझान, और सेक्स के प्रति संयम वाले सामाजिक संतुलन क़ायम रखने वाले संघर्ष तक। सेक्स और संस्कृति परस्पर पूर्णतः संतुलित हैं। इस संतुलन से स्वतन्त्रता पाने की इच्छा का अर्थ है पूर्ण विनाश की इच्छा करना।

मनुष्य अपनी चेतन कलाओं में इसी संघर्ष की अभिव्यक्ति करता है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण प्राचीन भवन-निर्माण-कला के मेहराब के निर्माण में देखा जा सकता है। यहाँ हम देखते हैं कि किस तरह दो विरोधी शक्तियों के संघर्ष में प्रत्येक शक्ति दूसरी शक्ति को सहारा देती है, और इस तरह स्थायित्व की उपलब्धि होती है। अगर यह विरोध समाप्त हो जाए, तो मेहराब बिखर कर गिर जायेगा।

एक दूसरी प्राचीन कला, जो भवन-निर्माण-कला से भी अधिक प्राचीन है, यानी नृत्य-कला, में भी हम इसी समन्वयात्मक संघर्ष की सुन्दर अभिव्यक्ति पाते हैं। नर्तक का प्रत्येक हाव-भाव, गति को एक ऐसी उपलब्धि है, जिसमें शारीरिक अंगों के विरोधी कार्यों के अधिकतम तनाव को इसी समन्वयात्मक संघर्ष में नितान्त तरलायित तरंगित रखा जाता है।

अन्य कलाओं में भी यह सिद्धान्त पाया जाता है; भले ही कुछ कम विश्वसनीय रूप में हो, लेकिन है अवश्य। काव्य में संवेदना को अबाध अभिव्यक्ति की चाह, और रूप-पक्ष के संयम के बीच, यह संघर्ष उपस्थित रहता है। प्रारंभिक काल से ही काव्य-रचयिता यह महसूस करते रहे हैं कि, अबाध भावात्मक अभिव्यक्ति की चाह को छंद, अलंकार आदि रूप-पक्ष की चाह के द्वारा नियंत्रण में रखना आवश्यक है, और जब इन दो विरोधी तत्त्वों का एक में समन्वय हो जाता है, तभी संतोषजनक परिणाम की उपलब्धि हो सकती है। जब, जैसा कि कभी-

कभी होता है, कोई कवि इस समन्वयात्मक विरोध की आवश्यकता के प्रति विद्रोह करता है, और रूप-पक्ष या भाव-पक्ष में किसी एक पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करता है, तो बहुत कम पाठक उसके काव्य का आनन्द उठा पाते हैं।

मेरी मान्यता है कि अन्य कलाओं में भी यह सिद्धान्त खोजा जा सकता है। प्रकृति के सभी कार्य-व्यापारों में विरोधी तत्त्वों के बीच समन्वयात्मक संघर्ष की माँग कार्य करती है, और चूँकि मनुष्य प्रकृति का ही एक अंग है, इसलिए स्वभावतः यह उसके भी कार्य-व्यापारों में लागू होती है।

●

मैं समझता हूँ कि इतना कुछ उस सबका संकेत देने के लिए पर्याप्त है, जो एक दार्शनिक सिद्धान्त की उपलब्धि के दौरान में मैंने पाया है। चूँकि, स्वयं मेरे लिए भी, यह एक बहुत ही धीमी, क्रमिक और अधिकांश में अचेतन उपलब्धि रही है, इसलिए स्वाभाविक है कि दूसरों को इसका उपदेश देने का मैंने कोई प्रयत्न नहीं किया है। लेकिन मेरी पुस्तकों के किसी भी सहृदय पाठक के लिए यह बहुत-कुछ स्पष्ट रहा है, बल्कि स्वयं अपने एक स्वतन्त्र दृष्टिकोण तक पहुँचने में कुछ ने तो इसे बहुत सहायक भी पाया है।

क्या जीवन में सुख त्याज्य हैं ?

रेबेका वेस्ट

●

अँग्रेज-उपन्यास-लेखिका, आलोचिका और निबंध-लेखिका। जन्म २५ दिसम्बर १८९२, आयरलैंड में। असली नाम सेसिली इजाबेल फ़ेयर-फ़ील्ड। पिता सम्पादक और युद्धकालीन सम्वाददाता थे, माँ प्रतिभा-सम्पन्न संगीतज्ञ।

जब रेबेका की आयु कुल १० वर्ष की थी, तो पिता की मृत्यु हो गयी और उनकी माँ उन्हें लेकर अपने जन्म-स्थान एडिनबरा चली गयी; वहाँ के जार्ज वाट्सन लेडीज कालेज और लण्डन ड्रामेटिक एकेडेमी में रेबेका की शिक्षा-दीक्षा हुई। कुछ समय के लिए उन्होंने स्टेज पर भी काम किया, और तभी से इब्सन के नाटक की नायिका का यह नाम अपने लिए अपना लिया।

जब रेबेका मात्र २० वर्ष की थी, तभी से उन्होंने 'क्लैरियन', 'न्यू स्टेट्समैन', 'स्टार', 'डेली न्यूज' आदि में राजनीतिक निबंध और साहित्यिक समीक्षाएँ लिखना शुरू कर दिया था। तब से आज तक वह अँग्रेजी और अमरीकन पत्र-पत्रिकाओं में बराबर राजनीतिक निबन्ध और साहित्यिक समीक्षाएँ लिखती रही हैं।

उनकी प्रथम प्रकाशित पुस्तक 'हेनरी जेम्स' की आलोचनात्मक जीवनी है, लेकिन उसके बाद का उनका अधिकांश लेखन कथा-साहित्य ही रहा है। विशेष उल्लेखनीय बात यह कि उनकी हर बादवाली कथा-पुस्तक पहली से भिन्न रही है।

उपन्यासों के अतिरिक्त रेबेका वेस्ट ने 'द स्ट्रेंज नेसेसिटी', 'डी० एच० लारेंस : एन एलिजी', आदि अन्य गद्य-कृतियाँ भी लिखी हैं।

लेकिन रेबेका वेस्ट की सर्वाधिक चर्चा उनके यात्रा-विवरणों को लेकर हुई है, जिनमें 'ब्लैक लैम्ब एण्ड ग्रे फ़ाल्कन' प्रमुख है। ११८१ पृष्ठों के दो भागों में प्रकाशित इस ग्रंथ में उनकी यूगोस्लाविया-यात्रा का वर्णन है।

वर्षों तक शादी के विरोध में आन्दोलन चलाने के बाद, १९३० में रेबेका वेस्ट ने

३० क्या जीवन में सुख त्याज्य हैं ?

हेनरी मैक्सवेल एण्ड्रूज नामक एक बैंकर से शादी करके अपने मित्रों को आश्चर्य में डाल दिया था, और उससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह कि वह अभी तक अपने पति के साथ सुखी वैवाहिक जीवन व्यतीत कर रही हैं। जो रेबेका वेस्ट अपनी युवावस्था में अपनी बोहेमियन आदतों और वस्त्रों के लिए बदनाम थीं, वही अब लंदन की सबसे चुस्त पोशाक और सलीकेवाली महिला मानी जाती हैं।

प्रस्तुत रचना 'आइ बिलीव' संकलन में प्रकाशित रेबेका वेस्ट के विस्तृत निबंध का संक्षिप्त-रूपान्तर है।

मुझे उन सुखदायक आश्वासनों में कोई आस्था नहीं है, जो हमें यह विश्वास दिलाने की कोशिश करते हैं कि हमारे सब कष्ट वास्तव में छिपे हुए वरदान हैं। मेरा यह भी विश्वास नहीं कि ऐसे तथ्यों का कहीं सचमुच अस्तित्व है, जो यह आश्वासन देते हैं कि मेरे इस जीवन ने किसी सनातन लक्ष्य की पूर्त्ति की है। लेकिन साथ ही यह भी सच है कि ये नकारात्मक बातें मुझे कष्टदायक भी नहीं लगतीं।

इसका कारण यह नहीं कि मेरा जीवन इतना सुखी रहा है कि इसका बाह्य रूप ही मुझे संतोषजनक लगता है। मेरा बचपन और मेरी किशोरावस्था मेरे बुजुर्गों की दुःखद मृत्यु से आक्रान्त रहे हैं, और मेरी बीसी का दशक अतिरिक्त कार्य और परेशानियों के कारण एक दुःस्वप्न की तरह बीता है। अपनी शादी के समय तक—और मैंने अपनी शादी अपनी उम्र के तीसी के दशक के अन्तिम वर्षों में की थी—मेरे निकट एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं था, जिसने गंभीरतापूर्वक मेरी पीड़ा, मेरी परेशानियों और मेरे दायित्वों के बारे में कभी सोचा हो, या मुझे इनसे बचाने के लिए कभी कोई प्रयास किया हो।

अब, जब मैं आखिरकार इस योग्य हुई हूँ कि अपने परिवार और अपने कार्य में सुख अनुभव कर सकूँ, तो स्थिति यह है कि न केवल मैं स्वयं ही, बल्कि वे सब भी जिनको मैं प्यार करती हूँ, किसी भी क्षण मूर्खतापूर्ण युद्ध की भयानक चपेट में आकर नष्ट हो सकते हैं। मैं मानती हूँ कि बहुत से लोग ऐसे होंगे जिनका भाग्य मुझसे भी बदतर रहा है; लेकिन मैं इस स्थिति को आदर्श नहीं मान सकती।

●

फिर भी मुझे किसी ऐसे धार्मिक मत या सिद्धान्त को खोज निकालने की बहुत अधिक चिन्ता नहीं रही है, जो मुझे यह आश्वासन दे सके कि सब अच्छे ही के

लिए हुआ है; जो मुझे यह बता सके कि मुझे मात्र एक विशेष पथ पर चलने की ज़रूरत है, और अगर मैं ऐसा कर लूँ, तो मुझे शाश्वत आनन्द की प्राप्ति हो जाएगी। संभव है, अगर मुझे कोई बेहद कष्टदायक और असाध्य रोग हो गया होता, तो मुझे उक्त धार्मिक मत के पालन की चिन्ता हो जाती, लेकिन अभी तक तो ऐसा कुछ हुआ नहीं है। मैं अपने भीतर इस बात के जानने की भी कोई विशेष जिज्ञासा नहीं पाती कि मेरी आत्मा अमर है या नहीं। हाँ, अगर मुझे इसके 'हाँ' या 'ना' के सम्बन्ध में कोई निश्चित और विश्वसनीय सूचना मिल जाए, तो मैं निश्चय ही उसमें बहुत अधिक रुचि लूँगी, हालाँकि मेरा खयाल है कि मुझे इससे कोई वैसा विशेष हर्ष या विषाद महसूस नहीं होगा; बल्कि इस तरह की सूचना के अभाव से मुझे कोई कष्ट भी नहीं प्रतीत होता।

जैसा कि मैंने कहा, सुखदायक विश्वासों के अस्तित्व के बोध में मुझे कोई आस्था नहीं है। बल्कि मेरी तो आस्था उस प्रक्रिया में है, उस विशिष्ट प्रक्रिया में, जो जीवन की सामान्य प्रक्रिया का ही एक अंग है। मात्र जीवित रहने की अपेक्षा उससे अधिक के लिए क्रियाशील रहने के मानवीय प्रयत्नों में ही मैं चरम मूल्य देखती हूँ। मनुष्य अपनी अनुभूतियों का चुनाव करता है, और उनका विश्लेषण करता है, और इस विश्लेषण के द्वारा वह जिन निष्कर्षों पर पहुँचता है, उनका उपयोग वह अपनी भावी अनुभूतियों के चुनाव में करता है, जो अपेक्षाकृत अधिक सुखदायक होती है।

'सुखदायक' शब्द का उपयोग मैं इसके व्यापकतम अर्थ में कर रही हूँ, यानी ऐसी अनुभूतियों के लिए जिनकी अच्छे भोजन और मदिरा से, व्यायाम से, प्रेम के स्थूल शारीरिक कार्य-व्यापारों से, अपनी प्रिय विद्या या कला या विज्ञान के प्रयोग से, सुखद शादी से, बच्चों की या बीमारों की या उन बूढ़ों की सँभाल से जो इसे पसन्द करते हैं, महत्त्वपूर्ण विचारधाराओं या उपयुक्त संस्थाओं या कला अथवा विज्ञान की सेवा से प्राप्ति होती है।

इन अनुभूतियों में रस लेने से जीवन दिन-प्रतिदिन अधिक सुखद बनाया जा सकता है। यह अपने-आपमें ही सर्वाधिक महत्त्व की बात है। यदि और कोई लाभ नहीं भी हुआ, तो इनका साध्य के रूप में उपयोग भी पर्याप्त माना जा सकता है। वर्तमान समाज की उलझनपूर्ण दुःखद स्थिति का प्रमुख कारण मैं यही मानती हूँ कि यह समाज सुख को जीवन-मूल्य की कसौटी मानने के प्रति इतना अधिक रुग्ण और संशयालु है।

●

इस दृष्टिकोण के विरोध में निश्चय ही यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि मनुष्य की रुचियाँ स्वभावतः ही इतनी बिगड़ैल होती हैं कि अगर सुख को कसौटी के रूप में मान लिया गया, तो वह अपनी समस्त शक्तियों को शराब पीने और 'सेक्स' की तृप्ति करने में ही नष्ट कर डालेगा।

हम आज की अपनी जिस सभ्यता को जानते हैं, उसमें मानवता के प्रति इस तरह की बात सोचना मैं ठीक नहीं समझती। मैंने अमरीका में और यूरोप के सभी देशों में (रूस, पोलैण्ड, रूमानिया और टर्की को छोड़कर) वर्षों तक विभिन्न तरह के मनुष्यों को देखा है, उनका अध्ययन किया है; और मैंने कहीं भी यह नहीं पाया है कि इस तरह की लम्पटता के प्रति उनका कोई विशेष लगाव हो। बेढंगे तरीके से शराब पीने की अतिरिक्त लत विशेषतः उन लोगों में पायी जाती है, जो अत्यधिक धन या अत्यधिक गरीबी के कारण ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों में रुचि लेने की सामान्य प्रक्रिया से वंचित हो जाते हैं; और इस तरह के लोगों की संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम है।

दूसरी आपत्ति 'सेक्स' के सम्बन्ध में उठाई जाती है; लेकिन इस बात का हमें कोई प्रमाण नहीं मिलता कि शराब की अपेक्षा 'सेक्स' मानवता के लिए अधिक खतरनाक है। मुझे इसमें शक है कि 'एक पति—एक पत्नी' प्रथा के अन्तर्गत जितनी यौन-सामर्थ्य की आवश्यकता है, पाश्चात्य स्त्री-पुरुषों में उससे कोई बहुत अधिक यौन-लालसा होती है। निश्चय ही, स्त्री-पुरुषों की कुछ यौन-सम्बन्धी जरूरतें होती हैं, और आज के युग में इसे स्पष्ट सामाजिक स्वीकृति मिल चुकी है, और ऐसे लोगों की भी कमी नहीं, जो यौन-सम्बन्धी इन जरूरतों की तृप्ति के लिए स्वीकृत साधनों के अलावा उस स्थिति में अस्वीकृत उपायों का भी सहारा लेते हैं जब वे पाते है कि सामाजिक और आर्थिक कारण उनके बीच में बाधा बनकर उपस्थित हो रहे हैं; लेकिन इस बात के प्रमाण बहुत कम मिलते हैं कि स्त्री या पुरुषों में से कोई भी इन यौन-लालसाओं की तृप्ति में इस हद तक लिप्त हो जाते हैं, जो स्वयं उनके या समाज के लिए हानिकारक हो। सच तो यह है कि जितना युक्ति-संगत यह सोचना हो सकता है कि शराब और व्यभिचार के द्वारा मानवता स्वयं का नाश कर लेगी, उतना ही तर्कसंगत यह सोचना भी हो सकता है कि शाकाहारी भोजन, मद्य-निषेध का पालन और अविवाहित रहने के सिद्धान्त द्वारा वह अपने अस्तित्व को मिटा डालेगी।

जीवन के प्रत्येक अंकुर को मेरा नमस्कार !

डॉ० अल्बर्ट श्वाइत्ज़र

●

सर्जन, अध्यात्म-शास्त्री, संगीतज्ञ, मिशनरी और दार्शनिक। जन्म १४ जनवरी १८७५, कैसर्सबर्ग, अलसास में। शिक्षा स्ट्रैसबर्ग विश्वविद्यालय, पेरिस के सोरबोन्न, और बर्लिन विश्वविद्यालय में हुई। पी-एच० डी० की उपाधि १८९९ में, तथा एम्० डी० की १९१३ में हासिल की।

श्वाइत्ज़र की पहली पुस्तक सन् १८९९ में काण्ट के धार्मिक-दर्शन पर प्रकाशित हुई। १९१० में 'द क्वेस्ट आफ़ द हिस्टोरिकल जीसस' प्रकाशित हुई जिसने श्वाइत्ज़र को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का अधिकारी बना दिया।

सन् १९०५ में, जब श्वाइत्ज़र ने अपने माँ-बाप और मित्रों से यह इच्छा जाहिर की कि वे अब डाक्टरी पढ़ेंगे और अपना शेष जीवन अफ्रीकियों की सेवा में गुजारेंगे तो उन्होंने उनके इस विचार का विरोध किया; लेकिन श्वाइत्ज़र अपने इरादे पर दृढ़ रहे।

सन् १९१२ में श्वाइत्ज़र ने हेलेन मैरियान्ने ब्रेसला से शादी की। अफ्रीका-प्रवास में श्वाइत्ज़र की सहायता करने के लिए ब्रेसला ने नर्स की ट्रेनिंग प्राप्त कर ली, और सन् १९१३ में दोनों पति-पत्नी अफ्रीका के लिए रवाना हो गये, और अपने प्रारम्भ के कुल ९ महीने के समय में ही श्वाइत्ज़र ने वहाँ लगभग २००० मरीज़ों का इलाज किया। इस कठिन परिश्रम के बावजूद श्वाइत्ज़र ने अपना लेखन भी जारी रखा, और अफ्रीका के अपने अनुभवों का वर्णन 'आन द एज आफ़ द प्रीमिवल फ़ारेस्ट' और 'फ्राम माइ अफ्रीकन नोटबुक' शीर्षक पुस्तकों में किया।

१९१४–१९१८ के प्रथम महायुद्ध के दौरान में फ्रांसीसियों ने श्वाइत्ज़र को नज़रबन्द रखा। नज़रबन्दी की यह अवधि श्वाइत्ज़र ने अध्यात्म-विद्या के अध्ययन में लगायी, और 'द मीस्टिसिज्म ऑफ़ पाल द एपोस्टल' पुस्तक तैयार की। महायुद्ध के बाद, कई वर्ष, उन्होंने यूरोप के विभिन्न देशों का भ्रमण करने, व्याख्यान देने, और संगीत के कार्यक्रम प्रस्तुत करने में बिताये। १९२३ में सभ्यता के दर्शन पर अपने दो ग्रंथ प्रकाशित किये : 'द डिके एण्ड रेस्टोरेशन आफ़ सिविलाइजेशन' तथा 'सिविलाइजेशन एण्ड एथिक्स'।

सन् १९५२ में डाक्टर श्वाइत्ज़र को शान्ति का नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया।

प्रस्तुत लेख 'दिस इज माइ फ़िलासफ़ी' में संकलित डाक्टर श्वाइत्ज़र के 'फ्राम एलिमेण्टल थिंकिंग : रेवरेंस फार लाइफ' शीर्षक विस्तृत निबन्ध का संक्षिप्त-रूपान्तर है।

विश्व केवल निर्जीव घटनाओं के ही समूह का नाम नहीं है, इसमें जीवन की धड़कन भी है—ऐसे जीवन की धड़कन जो अपने ही तक सीमित नहीं, निष्क्रिय भी नहीं, बल्कि सक्रिय है; जिसका एक अर्थ है, एक उद्देश्य है।

विश्व निर्जीव नहीं, सजीव है—इस मान्यता तक पहुँचने में मनुष्य को कम समय नहीं लगा है।

मनुष्य और जगत् का एक-दूसरे से क्या सम्बन्ध है—यह एक ऐसा यथार्थवादी प्रश्न है, जिसका एकमात्र यथार्थवादी उत्तर है 'जीवमात्र के प्रति आस्था'। विश्व के सम्बन्ध में मनुष्य का ज्ञान इतना तो स्पष्ट बोध कराता ही है कि जिस तरह उसमें जीवन के प्रति मोह है, उसी तरह हर जीवित प्राणी में भी है। इस विश्व के साथ उसका अपना सम्बन्ध सक्रियता का भी है और निष्क्रियता का भी। एक ओर जहाँ वह घटनाओं का दास है, वहाँ दूसरी ओर अपने सम्पर्क में आनेवाले हर जीवन को वह प्रभावित भी करता है; उसकी प्रगति में सहायक हो सकता है, तो उसे नष्ट भी कर सकता है।

मनुष्य के लिए अपने अस्तित्व को सार्थकता देने का एक संभव उपाय यह प्रतीत होता है कि वह विश्व के साथ अपने प्राकृतिक संबंधों को आत्मिक स्तर पर उठाये। आत्मिक सम्बन्ध की प्रगति का एकमात्र साधन समर्पण है। और वास्तविक समर्पण का अर्थ कुछ इस प्रकार है : चूंकि मनुष्य अवश्यंभावी घटनाओं के सम्मुख स्वयं को असहाय महसूस करता है, वह बाह्य शक्तियों से विमुख होकर आभ्यंतरिक स्वतन्त्रता चाहता है। आभ्यंतरिक स्वतंत्रता से तात्पर्य यह है कि वह अपने से बाहर की विरोधी ताक़तों का सामना करने के लिए अन्दरूनी शक्ति-संचय करता है—कुछ इस प्रकार कि इस सबसे उसे अधिक गहरा और अधिक अन्तर्मुखी बनने में सहायता मिले; वह शान्त और शान्तिप्रिय बन सके। अस्तु, समर्पण का अर्थ है मनुष्य के अपने अस्तित्व की आत्मिक और नैतिक घोषणा। केवल वही व्यक्ति, जो एक बार समर्पण की स्थिति से गुज़र चुका है, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भी घोषणा कर सकता है।

और तब व्यक्ति केवल अपने ही लिए नहीं जीता, वरन् अपने चतुर्दिक फैले जीवन में जो भी उसके सम्पर्क में आते हैं, वह स्वयं को भी उन्हीं में से एक समझता है। दूसरे जीवों के अनुभवों को वह अपने अनुभव समझता है, उन्हें वह हर सम्भव सहायता देने को प्रस्तुत रहता है, और इस प्रकार किसी दूसरे जीवन को सुखी बनाने में वह जितना ही सफल होता है, उतनी ही गहरी प्रसन्नता अपने भीतर महसूस करता है।

यह सच है कि व्यक्ति ने जहाँ एक बार यह सिद्धान्त अपनाया, और केवल अपने ही लिए न जीकर दूसरों के लिए भी जीना शुरू किया, कि उसका अपना जीवन अधिक कठिन हो जायेगा, लेकिन साथ ही अधिक समृद्ध, अधिक सुन्दर और अधिक सुखद भी। इसके बाद वह जीवन को महज़ यों ही काट देने के लिए नहीं, वरन् सच्चे अनुभव के रूप में लेगा।

जीवन और जगत् के सम्बन्ध में जहाँ व्यक्ति ने सोचना शुरू किया नहीं कि वह सीधा उसी जीवमात्र के प्रति आस्थावाले सिद्धान्त के पास पहुँचकर रुकता है। अगर वह चिन्तन के बावजूद इस सिद्धान्त को नहीं अपनाता और केवल 'स्वान्तः सुखाय' के ही तंग दायरे में स्वयं को सीमित रखना चाहता है, तो वह ऐसा करके स्वयं को अविचारी और जड़ बना डालता है। कोई भी ऐसा विचार जो मनुष्य को संशय, सन्देह और नास्तिकता की ओर उन्मुख करता है, वस्तुतः विचार नहीं अविचार है—इस बात की पुष्टि इसी तथ्य से हो जाती है कि तब वह जीवन और जगत् के रहस्यों से स्वयं को असंपृक्त रखता है।

'प्राणीमात्र के प्रति आस्था' का सिद्धान्त अपने में तीन तत्व लिये हुए है: समर्पण, जीवन और जगत् की पारस्परिक एकता, और नैतिकता। यही तीन तत्व 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त में पाये जाते हैं और चिन्तन के स्वाभाविक परिणाम है।

सतही दृष्टि से देखने पर 'प्राणीमात्र के प्रति आस्था' का सिद्धान्त इतना अधिक सामान्य और निर्जीव लगता है, गोया इसके आधार पर एक सजीव नीतिशास्त्र की स्थापना नहीं ही हो सकती। लेकिन जो भी व्यक्ति इस सिद्धान्त के प्रभाव में एक बार आया है, वह जानता है कि इस निर्जीव-सी दिखाई देती अभिव्यक्ति में कितनी आग है। प्राणीमात्र के प्रति आस्था का नीतिशास्त्र ही विश्वव्यापी प्रेम का नीतिशास्त्र है। यही ईसा का भी नीतिशास्त्र है, जिसे अब वैचारिक आवश्यकता के रूप में स्वीकार किया जाता है।

आपत्ति उठाई जाती है कि इस तरह का नीतिशास्त्र प्राकृतिक जीवन को बहुत

अधिक महत्त्व देता है। इसका सीधा-सा उत्तर यह है कि हर प्रकार का आत्मिक जीवन भी प्राकृतिक जीवन में ही समाहित रहता है। अस्तु, प्राणीमात्र के प्रति आस्था का सिद्धान्त आत्मिक जीवन पर भी उतना ही लागू होता है,जितना कि प्राकृतिक जीवन पर। किसी व्यक्ति की आस्था प्राकृतिक जीवन के लिए जितनी अधिक होगी,उतनी ही अधिक वह आत्मिक जीवन के प्रति भी बढ़ेगी।

प्राणीमात्र के प्रति आस्थावाला यह सिद्धान्त इस कारण कुछ विचित्र-सा भी लग सकता है, कि यह छोटे और बड़े के बीच, अथवा कम महत्त्वपूर्ण और अधिक महत्त्वपूर्ण के बीच, भेद की रेखा नहीं खींचता। इस विशेषता के अपने कारण हैं।

इसे हम यों समझ सकते है : विभिन्न प्राणियों में मूल्यगत भेद की कसौटी उस प्राणी से हमारे अपने सम्पर्कों की निकटता और दूरी ही हो सकती है। यह कसौटी नितान्त रूप से वैयक्तिक रहती है। वस्तुतः हममे से किसके पास निश्चित कसौटी है जो कह सके कि दूसरे किसी भी प्राणी का अपने-आपमें क्या महत्त्व है, और विश्व के एक अंग के रूप में क्या महत्त्व है ?

प्राणी-प्राणी में भेदवाले सिद्धान्त को मान लेने का अर्थ हुआ कि कुछ प्राणी ऐसे भी हो सकते है, जिनके जीवन का कोई मूल्य नहीं, अस्तु इन्हें नुक़सान पहुँचाने या नष्ट कर देने से भी कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। इस तरह के तुच्छ प्राणियों की सूची में विभिन्न प्रकार के कीड़े-मकोड़े और आदिम लोगों को लिया जाता है।

जो व्यक्ति वास्तविक अर्थ मे आस्तिक है, उसके लिए तो जीवमात्र पवित्र है, चाहे वह मानवीय दृष्टि से तुच्छ प्राणी की श्रेणी में ही आता हो। वह भेद तभी कर सकता है जब इस तरह के कई मसले एक साथ उसके सामने आते हैं, मसलन् मान लीजिए, उसे यह निर्णय लेना है कि दो जीवों मे से वह एक को ही बचा सकता है, तो वह किसे बचाये और किसे नष्ट हो जाने दे। लेकिन इस प्रकार के निर्णयों के दौरान में उसे इस बात का बराबर अहसास रहता है कि वह नितान्त वैयक्तिक आधारों पर निर्णय ले रहा है और नष्ट होने वाले जीव का दायित्व उसी के कन्धों पर है। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि आज की नई ईजाद दवाइयों के कारण हम बीमारी को दूर कर मनुष्य के जीवन को बचा सकते हैं; लेकिन साथ ही खुर्दबीन से दिखाई देनेवाले बीमारी के कीटाणुओं को देखकर मुझे यह भी अहसास हुए बिना नहीं रहता कि एक व्यक्ति के जीवन को बचाने के लिए कितने सारे दूसरे जीवों का बलिदान करना पड़ता है। मान लीजिए, मैं मछुओं से एक बड़ी मछली—जो छोटी मछलियों को खाकर जीवित रहती है—इस उद्देश्य से खरीदता हूँ कि उसका जीवन उनके क्रूर

हाथों से बचा सकूँ। लेकिन अब मुझे यह निश्चय करना होगा कि इस बड़ी मछली को भूख से तड़प-तड़पकर मर जाने दूँ या इसे जीवित रखने के लिए दूसरी अनेक छोटी मछलियों का बलिदान करूँ। अगर मैं बादवाला रास्ता अपनाता हूँ तो मुझे यह बात कोंचती रहेगी, कि अनेक जीवों को बचाने के लिए मुझे इस एक जीवन का बलिदान कर देना चाहिए था।

सृष्टि के प्रत्येक जीव में विद्यमान इस स्वाभाविक जिजीविषा के बीच में मनुष्य स्वयं को खड़ा पाता है और महसूस करता है कि अपने जीवन की रक्षा में वह दूसरे प्राणियों की अपेक्षा अधिक अच्छी स्थिति में है। अगर वह प्राणी-मात्र के लिए आस्थावाले सिद्धान्त से प्रभावित है, तब तो वह दूसरे जीवों को केवल अनिवार्यता होने पर ही नष्ट करेगा, मात्र अविवेक और मनमौज के लिए नहीं। अगर वह आभ्यंतरिक स्वतन्त्रता प्राप्त व्यक्ति है, तो वह जीवमात्र को सहायता देने और उसके जीवन से दुःख और विनाश को मिटा देने की भावना से प्राप्त होनेवाले आनन्द का हर अवसर उपयोग में लायेगा।

चूँकि मैं बचपन से ही पशु-जीवन से सम्बन्धित रहा हूँ, इसलिए मेरे लिए यह अधिक प्रसन्नता की बात है कि प्राणीमात्र के प्रति आस्थावाला आज का सार्वभौम नीतिशास्त्र पशुओं के साथ रखी जानेवाली सहानुभूति की भावना को—जिसे अक्सर भावुकता की संज्ञा दी जाती रही है—एक विवेकशील मनुष्य का आवश्यक कर्त्तव्य समझता है। अब तक नीतिशास्त्र ने मनुष्य और पशु के बीच की समस्या को या तो अविचार्य समझा, या फिर उसे अपनी सामर्थ्य से बाहर की चीज़ माना। जहाँ पशु-जगत् के साथ सहानुभूति को सही और जायज़ समझा भी गया, वहाँ भी इसे नीतिशास्त्र के दायरे के भीतर नहीं लाया जा सका, क्योंकि नीतिशास्त्र का उद्देश्य मनुष्य के प्रति मनुष्य के व्यवहार का ही विश्लेषण और निरूपण समझा जाता था।

कब आयेगा वह समय जब जनमत इस तरह का कोई आनन्दोत्सव सहन नहीं करेगा, जो पशुओं के प्रति दुर्व्यवहार पर टिका हो?

तो, चिन्तन और विचार के द्वारा जिस वास्तविक नीतिशास्त्र की उत्पत्ति होती है, वह तर्क-संगत नहीं कहा जा सकता; वह तो तर्क से परे, प्रेरणा पर आधारित रहा है। यह नीतिशास्त्र सतर्कता से व्याख्यात कर्त्तव्यों का भी उल्लेख नहीं करता; हाँ, हर व्यक्ति पर यह दायित्व ज़रूर डालता है कि उसके सम्पर्क में आनेवाले प्रत्येक जीवन की सहायता करने के लिए वह प्रस्तुत रहे।

मेरी आस्था का चरम विन्दु

डॉ० ज्युलियन हक्सले

●

अँग्रेज़ वैज्ञानिक-लेखक, जन्म २२ जून १८८७, लण्डन में। मेथ्यू आर्नल्ड की वंश-परम्परा में, और एल्डुअस हक्सले के बड़े भाई। पिता लियोनार्ड हक्सले भी निबंध-लेखक थे।

ज्युलियन हक्सले की शिक्षा-दीक्षा एटन और आक्सफ़ोर्ड के बैलिअल कालेज में हुई, और इन दोनों ही जगह इन्होंने स्कालरशिप हासिल की। शिक्षा समाप्त करने के बाद बैलिअल कालेज में ज्यूलोजी के प्राध्यापक नियुक्त हुए, और इसके बाद इंगलैंड, अमेरिका और इटली आदि कई जगहों पर कालेजों और विश्वविद्यालयों में प्राध्यापक रहे।

उनका कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत रहा है। १९२९ में पूर्वी अफ्रीका के शिक्षा सम्बन्धी सलाहकार बनाकर भेजे गये, जिसका परिणाम उनकी पुस्तक 'अफ्रीकन व्यू' है। ज्यूलोजिकल सोसाइटी आफ़ लण्डन के सेक्रेटरी और प्रसिद्ध रिजेण्ट पार्क ज्यू के डाइरेक्टर रहे। एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका के चौदहवें संस्करण के जीव-विज्ञान विभाग के सम्पादक भी थे। १९४६ में यूनेस्को के डाइरेक्टर-जनरल नियुक्त हुए, और दो वर्ष तक उस पद पर रहे। इस नियुक्ति को लेकर काफ़ी गरमागरम वाद-विवाद और विरोध हुआ। सवाल उनकी योग्यता का नहीं था; उनकी वाम-पंथी विचारधारा और विशेषकर उनकी नास्तिकता ही आपत्ति और आलोचना के मुख्य कारण थे। यूनेस्को के बाद हक्सले ने विश्व-भ्रमण किया, व्याख्यान दिये, तथा साथ ही पुस्तकें और लेख भी लिखना ज़ारी रखा।

यों हक्सले को भ्रमण, तैरना और टेनिस खेलना भी पसन्द है, लेकिन उनका मुख्य शौक़ पक्षी-पालना है, जिस विषय पर उन्होंने एक पुस्तक भी लिखी है। हक्सले की शादी एक फ्रान्सीसी-स्विस महिला मेरी जूलियट बैलोट से १९१९ में हुई थी।

प्रस्तुत कृति 'आइ बिलीव' संकलन में प्रकाशित हक्सले के विस्तृत लेख का संक्षिप्त-रूपान्तर है।

मेरा विश्वास है कि जीवन जीने-योग्य हो सकता है; यद्यपि मैं देखता हूँ कि जीवन में पीड़ा, ग़रीबी, क्रूरता, दुःख और मृत्यु का बोल-बाला है। मैं यह नहीं कहता कि जीवन आवश्यक रूप से जीने-योग्य है ही, वरन् महज़ यह कि अधिकांश लोगों के लिए उसे ऐसा बनाया जा सकता है।

मेरा विश्वास है कि व्यक्ति के रूप में, समूह के रूप में और समूची मानवता के रूप में मनुष्य अपने अस्तित्व के माध्यम से एक संतोषजनक लक्ष्य प्राप्त कर सकता है, यद्यपि मैं देखता हूँ कि संसार में इतनी निराशा, निरुद्देश्यता, तुच्छता, ऊब, गन्दगी और असफलता व्याप्त है। फिर स्पष्ट कर दूँ: मैं यह नहीं कहता कि सृष्टि में या हमारे अस्तित्व में ऐसा कोई संतोषजनक लक्ष्य अनिवार्य रूप से निहित है ही या कि मनुष्य इस तरह का कोई लक्ष्य प्राप्त कर ही लेगा, बल्कि महज़ यह कि ऐसा लक्ष्य खोजा जा सकता है।

मेरी मान्यता है कि जीवन में ऐसे मूल्यों का अस्तित्व है, जिनमें काया और इन्द्रियों के सामान्य सुखों से ऊपर उठकर उदात्त प्रेम, सौन्दर्य, बुद्धि, सत्कर्म और सृजनात्मक प्रवृत्तियों से प्राप्त सन्तोष शामिल हैं। मैं यह नहीं मानता कि ये मूल्य मनुष्य को किसी अलौकिक या दैवी शक्ति द्वारा वरदान में मिलते हैं: ये मनुष्य के अपने स्वभाव की उपज हैं। सभ्यता और प्रगति की जिस मंज़िल तक हम आ पहुँचे हैं, वहाँ हमें यह निःसंदेह प्रतीति हो चुकी है कि दान्ते की 'डिवाइन कॉमेडी' का महत्त्व किसी भी लोकप्रिय फ़िल्मी गीत से कहीं अधिक है; डार्विन या न्यूटन की वैज्ञानिक उपलब्धियों की जानकारी क्रॉसवर्ड पहेली का हल निकालने से बड़ी है; प्रेम की चरम अनुभूति इन्द्रियों के सुख से ऊँची है; निःस्वार्थ भावना का मूल्य स्वार्थ-प्रेरित कार्यों से कहीं अधिक है। यों इन अन्य दूसरी बातों और प्रयत्नों का भी किसी-न-किसी रूप में मूल्य है ही।

मैं यह नहीं मानता कि संसार में पूर्ण सत्य, पूर्ण सुन्दर, पूर्ण नैतिक या पूर्ण सद्गुण जैसा कुछ है। लेकिन इसका यह अर्थ भी नहीं कि मैं उन फ़ैशनवादियों की टोली का हूँ जो सत्य, सुन्दर और शिव के अस्तित्व में ही विश्वास नहीं रखते, या जो कहते हैं कि इन तत्वों में कुछ धरा नहीं, इनका कोई महत्त्व नहीं।

बहुत-से ऐसे प्रश्न हैं, जो हमें उठाने ही नहीं चाहिए, क्योंकि उनके उत्तर हम कभी पा नहीं सकते। न सुलझनेवाली समस्याओं को सुलझाने का प्रयास हमें दुःख, चिन्ता, निराशा और विनाश के अतिरिक्त और कुछ दे ही नहीं सकता। वैज्ञानिक मसलों में भी हमें सही प्रश्न पूछने की आदत डालनी चाहिए। मूल-

भूत सिद्धान्तों की खोज के समय ग़लत प्रश्न का यह ख़तरा और भी अधिक आड़े आ जाता है।

ईश्वर या अन्य देवताओं के अस्तित्व में मेरा विश्वास नहीं। मुझे लगता है कि दैवी अस्तित्व का सिद्धान्त ही — हालाँकि यह अनेक अनुभूत तत्त्वों पर आधारित है—ग़लत है। मुझे यह सिद्धान्त ग़लत इसलिए लगता है कि यह इस मनमानी धारणा पर आधारित है कि कोई ऐसी शक्ति है, जो सृष्टि का नियंत्रण करती है। और अनुभूत तत्त्व? जीवन में हमें अनेक ऐसी विपदाओं का सामना करना पड़ता है,जो हमारी समझ और शक्ति की सीमाओं से परे हैं—जैसे, मृत्यु! हमें अक्सर यह रहस्यात्मक अनुभूति होती है कि हमारे मानवी अस्तित्व से बड़ी कोई और भी शक्ति है,जिसके साथ एकाकार होने की हमारी आकांक्षा रहती है। हमें अपनी चेतना पर अपराध और पाप के बोझ की भी अनुभूति होती है, और इनसे छुटकारा पाने के उपायों में हम विश्वास भी करने लगते हैं। आस्तिक धर्मों ने इन्हीं वास्तविक अनुभूतियों के तत्त्वों को आस्था और विश्वास के धागे में पिरो दिया और उसे इस मनमाने सिद्धान्त से जोड़ दिया कि ईश्वर है, और जगत् उसकी शक्ति का चमत्कार है।

मेरा विश्वास है कि यह सिद्धान्त भी गलत प्रश्न पूछने का ही परिणाम है: ग़लत प्रश्न यह कि "सृष्टि का नियंत्रण कौन करता है?" जहाँ तक हम देख-समझ सकते हैं, सृष्टि स्वयं ही अपनी नियन्ता है। यह तुलना कि जैसे देश किसी शासक के नियंत्रण से चलता है, उसी प्रकार इस विश्व का भी कोई नियन्ता है, ग़लत है। अगर इस तरह का कोई ईश्वर सृष्टि के मूल में या उसके ऊपर है भी तो कम-से-कम हमें उसके बारे में कोई जानकारी नहीं। ऐतिहासिक धर्मों के ये वास्तविक प्रतीत होनेवाले देवता महज़ प्राकृतिक शक्तियों के दैवीकरण और हमारी मानसिक प्रक्रियाओं के ही परिणाम हैं। हम इस प्रश्न का तो उत्तर दे सकते हैं कि "आस्तिक धर्मों के देवता कौन हैं?" लेकिन "ईश्वर की प्रवृत्ति क्या है?" इस प्रश्न का उत्तर हम नहीं दे सकते, क्योंकि हमारे पास यह जानने का कोई साधन नहीं कि सचमुच ऐसी किसी वस्तु का अस्तित्व है भी, या नहीं।

●

अमरत्व का मसला भी इसी से मिलता-जुलता है। मृत्यु के बाद जीवन का अस्तित्व रहता है या नहीं, इस प्रश्न का सही उत्तर देने की स्थिति में हम आज भी नहीं पहुँच पाये हैं, और इस प्रश्न का उत्तर तो असम्भव ही है कि यह दूसरा जीवन है कैसा? ऐसी स्थिति में अगर हम दूसरे जीवनों के आवागमन से मुक्ति

पाने जैसी समस्याओं में उलझते हैं, तो समय और शक्ति का यह व्यय उपयोगी परिणामों पर पहुँचता नहीं दिखता। हाँ, अगर हम मोक्ष का सम्बन्ध इसी जगत् से जोड़ें तो इसका अर्थ होगा हमारी प्रवृत्ति के विभिन्न कोनों में एकत्व की स्थापना, अर्द्धचेतन की अथाह गहराइयों और अछूती ऊँचाइयों में समझौते की अवतारणा, हमारे भीतरी और बाह्य जगत् के बीच एक संतोषजनक सम्बन्ध-सूत्र की उद्भावना—जिनमें न केवल बाह्य प्रकृति ही, वरन् मनुष्य का सामाजिक जीवन भी सम्मिलित हो। इस प्रकार के मोक्ष में तो मेरी भी आस्था है, और इसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना मैं भी उचित समझता हूँ।

●

प्रश्न उठेगा : 'अगर हमने ईश्वर और अमरत्व को ही अस्वीकार दिया, तो फिर बचेगा क्या ?' यह ऐसा प्रश्न है, जो अक्सर नास्तिक व्यक्तियों से पूछा जाता है। एक धर्म-भीरु भक्त तो तुरन्त कह देगा, कि तब तो कुछ भी नहीं बचा। इसका कारण यह है कि वह अपने धार्मिक विश्वासों के परिप्रेक्ष्य में ही सोचने का अभ्यस्त रहा है।

लेकिन वस्तुतः फिर भी बहुत-कुछ बचा रहता है।

उसकी पुष्टि इस ऐतिहासिक तथ्य से होती है कि अनेक स्त्रियों और पुरुषों ने ईश्वर या अमरत्व में आस्था के बग़ैर भी सक्रिय, उदात्त और परोपकार-रत तत्पर जीवन बिताया है। अपने अविकृत रूप में बौद्ध धर्म भी ऐसे किसी अस्तित्व में विश्वास नहीं करता, और न स्टोइक्स लोग करते थे; न उन्नीसवीं शती के अगनोस्टिक्स लोगों ने किया, और न आज के कम्युनिस्ट ही करते हैं। तो ईश्वर और अमरत्व जैसी आस्थाओं के बिना भी मनुष्य उदात्त जीवन की प्राप्ति में आस्था रख सकता है, और उसमें कट्टर आस्तिकों के समान यह दृढ़ विश्वास पनप सकता है कि जीवन सचमुच कुछ है, सचमुच जीने-योग्य है।

मैं जोर देकर कहता हूँ कि किसी भी युग में यह कथन उतना सत्य नहीं रहा, जितना आज है। इसका कारण हमारी वैज्ञानिक उपलब्धियाँ हैं।

●

आज हम यह स्वीकारने को मजबूर नहीं कि प्राकृतिक दुर्घटनाएँ और जीवन की विडम्बनाएँ किसी रहस्य के आवरण में लिपटी है, और उन्हें सहने के अलावा हमारे पास और कोई चारा ही नहीं। हमारे पूर्वज महामारी को दैवी-कोप समझते थे। आज हम इसके कारणों को जानते हैं, और इन्हें रोकने और दूर करने के उपायों को भी। यही बात भूकम्प और तूफ़ान जैसी प्राकृतिक दुर्घटनाओं

पर भी लागू होती है : अगर हम इन्हें रोक नहीं सकते, तो अब कम-से-कम यह भय भी तो नहीं रहा कि ये ईश्वरी-कोप के परिणाम हैं।

हमारे पूर्वजों को ऐतिहासिक विकास का ज्ञान नहीं था। इतिहास से तात्पर्य बाइबिल में वर्णित सृष्टि के निर्माण और क़यामत के दिन की कथा तक ही सीमित था। ऐसी स्थिति में उन्हें जीवन 'व्यर्थ, क्रूर और क्षणिक' लगा था, और बचाव का एकमात्र आश्रयस्थल दिखायी दिया था धर्म, धर्म की मृग-मरीचिका।

अब हमने ऐतिहासिक विकास के सिद्धान्त को जान लिया है। हमारा ज्ञान प्रागैतिहासिक और आदिम युग के कोनों-अतरों तक पहुँच चुका है। इससे समय का मापदण्ड पूर्णतः बदल गया है। प्रागैतिहासिक और आदिम युगों के लिए कुछ हज़ार वर्ष ही नहीं, लाखों और करोड़ों की संख्या तक बात पहुँचती है। विगत के साथ-साथ हमारा आगत भी विस्तार पा गया है। आज के मनुष्य और उसके वंशजों के सामने भी अभी लाखों-करोड़ों वर्षों तक जीवन-क्रम चलने की सम्भावना विद्यमान है।

हमारा नया इतिहास आशावादिता पर टिका है। मोटे रूप में, हम इसे यों कह सकते हैं : मनुष्य के आविर्भाव के पूर्व जीवन प्रगति करता रहा, फिर मनुष्य का निर्माण हुआ, और उसके बाद जीवन ने प्रगति की। मनुष्य भी पाँच लाख सालों में प्रगति करता रहा है। आज के मनुष्य की उपलब्धियों को देखकर उसकी भावी प्रगति की सम्भावनाओं की आशा करना निराधार नहीं कहा जा सकता।

आख़िर हम उस स्टेज पर पहुँच गये हैं,जहाँ हमने निराशावादी दृष्टिकोण को त्याग कर जगत् और जीवन के सम्बन्ध में एक आशावादी दृष्टिकोण अपना लिया है। यह ठीक है कि इसके पीछे हमारे लाखों वर्षों के कष्टों और बलिदानों की कहानी है, और अभी भी करने के लिए बहुत-कुछ शेष है, फिर भी इतना तो है ही कि यह आशावादी विश्वास हमें आगे बढ़ने के लिए उत्साहित करता रहता है।

अन्त में, यह और कह दूँ कि हम अपने सिद्धान्तों को गिनती के कुछ सीधे-सादे शब्दों की कारा में क़ैद नहीं कर सकते। जीवन बहुत उलझा हुआ है, बहुत वैविध्यपूर्ण है। हमें सिद्धान्तों को आस्था के द्वारा पूर्णता देनी होगी। और आस्था का अन्तिम लक्ष्य जीवन है, उसकी प्रगति और समृद्धि है। अस्तु, मेरी अन्तिम आस्था जीवन में है।

मैं और मेरा भौतिकवादी जीवन-दर्शन

डॉ० जे० बी० एस० हाल्डेन

●

अँग्रेज जीव-शास्त्री। जन्म ५ नवम्बर १८९२, आक्सफोर्ड में। हाल्डेन के पिता प्रोफ़ेसर जान स्काट हाल्डेन शरीर-वैज्ञानिक थे, चाचा विस्काउण्ट हाल्डेन राजनीतिज्ञ तथा दार्शनिक थे, और बहन नाओमी मिचीसन उपन्यास-लेखिका थी। हाल्डेन की प्रारम्भिक शिक्षा एटन और आक्सफ़ोर्ड में हुई। उन्हें विज्ञान का व्यावहारिक ज्ञान बचपन में ही अपने पिता की सहायता करते समय प्राप्त हुआ, और सन् १९१० में कुल १८ वर्ष की आयु से ही उन्होंने स्वयं अपनी वैज्ञानिक खोजें भी प्रारंभ कर दी थीं।

सन् १९२२ से १९३२ के बीच हाल्डेन कैम्ब्रिज में रसायन-शास्त्र के रीडर रहे, और १९३३ के बाद लन्दन विश्वविद्यालय में शरीर-विज्ञान और बाद में बायोमेट्री के प्रोफ़ेसर रहे। १९३२ में कैलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय में विशेष आमन्त्रित प्रोफ़ेसर भी थे। इसी वर्ष रायल सोसायटी आफ़ लण्डन के सदस्य भी चुने गये। लेकिन इन विश्वविद्यालयों से हाल्डेन की कभी पटी नहीं, और बराबर परस्पर तनाव तथा विरोध चलता रहा।

सन् १९३३ तक हाल्डेन ने स्वयं को राजनीति से दूर रखा, लेकिन जब 'अँग्रेज सरकार ने हिटलर और मुसोलिनी को सहयोग देना शुरू किया' तो उन्हें मजबूर होकर राजनीति के मैदान में उतरना पड़ा। यों वे किसी राजनीतिक दल के सदस्य नहीं रहे, लेकिन उनका स्पष्ट रुझान साम्यवादी दल की ओर रहा है, और वे आज के युग में मार्क्सवादी दर्शन को ही समयोचित और अनिवार्य मानते हैं।

पिछले दस वर्षों से हाल्डेन ने राजनीतिक जीवन से स्वयं को तटस्थ कर लिया है, और उनका कहना है: "अमेरिका में मुझे लोग निश्चय ही साम्यवादी समझते होंगे, लेकिन दरअसल मेरे राजनीतिक विचार जवाहरलाल नेहरू या किसी भी अन्य तटस्थ राजनीतिज्ञ से मिलते-जुलते हैं।"

प्रस्तुत लेख 'आइ बिलीव' संकलन में प्रकाशित हाल्डेन के निबन्ध का संक्षिप्त-रूपान्तर है।

मेरा दर्शन मार्क्स और एंगिल्स का, लेनिन और स्टालिन का दर्शन है। मेरा झुकाव इसकी ओर किस तरह हुआ, इसका यहाँ उल्लेख करना असंगत नहीं होगा। एक वैज्ञानिक के नाते, मेरा सम्बन्ध पदार्थ से था। मैंने स्वयं अपने ऊपर भी प्रयोग किये, और खुद को एक ऐसी वस्तु के रूप में गिना, जो भौतिक और रासायनिक नियमों के अनुसार परिचालित होती है। अगर ये नियम मेरे लिए भी उतने ही सच नहीं साबित होते जितने कि एक शीशी के भीतर बन्द रसायन-पदार्थों के लिए होते हैं, तो कदाचित् मैंने अपने जीवन का अन्त कर डाला होता। दरअसल, मैं अपने जीवन की बाज़ी लगा रहा था कि भौतिकवाद सत्य है।

लेकिन मैं भौतिकवाद में अपनी आस्था क़ायम नहीं रख सका, क्योंकि इस सिद्धान्त के हर अक्षर ने मुझे एक मशीन में बदल दिया, या एक ऐसे पदार्थ में बदल दिया, जो महज़ कार्य करता था; जिसके भीतर से महसूस करने, आकांक्षा करने और योजनाएँ बनाने की शक्ति नष्ट हो चुकी थी। तब मैंने एंगिल्स को पढ़ा और मैंने पाया कि एक ऐसे भौतिकवाद का भी अस्तित्व है, जो पदार्थ और मस्तिष्क के बीच एक सेतु का कार्य करता है—जो दोनों के ही अस्तित्व को अस्वीकार नहीं करता।

यहाँ तक तो ठीक था; लेकिन मैंने पाया कि जब यह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद समाज पर लागू किया जाता है तो यह भविष्यवाणी करता है कि हमारी वर्त्तमान आर्थिक व्यवस्था अपना कार्य करना बन्द कर देगी; और चूँकि आमूल परिवर्तन वाली यह बात हमारे शासक वर्ग को स्वीकार्य नहीं, इसलिए इस परिवर्तन का आविर्भाव मात्र श्रमिकों के क्रान्तिकारी संघर्ष द्वारा ही संभव होगा।

मुझे यह सिद्धान्त पसन्द नहीं था। एक प्रोफ़ेसर के रूप में, मैं अन्य बहुत-से लोगों की अपेक्षा अधिक सुरक्षा की स्थिति में था। मैं आशा करता था कि अगर आवश्यकता हुई, तो रेल, खदानें, ज़मीन और बैंकों के क्रमिक राष्ट्रीयकरण द्वारा समाजवाद की ओर यह परिवर्तन धीरे-धीरे लाया जा सकता है। मैं वैज्ञानिक के रूप में अपने धंधे को चालू रखना चाहता था, और केवल मत देने और आवश्यकतानुसार कभी-कभी भाषण देने के अतिरिक्त राजनीति की दलदल से स्वयं को दूर रखना चाहता था। राजनीति के प्रति मेरा रुख कुछ-कुछ उपेक्षा और अवहेलना का था, जैसा कि आज भी बहुत-से प्रोफ़ेसरों का है।

और तभी वह तूफ़ान आया : हिटलर ने मेरे जर्मन साथियों को महज़ इसलिए नौकरियों से हटाना शुरू कर दिया कि वे यहूदी, कैथोलिक्स, प्रोटेस्टैण्ट, समाजवादी और उदारवादी थे, याकि उनका अपराध मात्र इतना था कि वे ईमानदार थे। मुझे उनमें से कइयों के लिए नौकरी तलाशनी पड़ी। और ज्योंही मैंने हिटलर-विरोधी प्रचार शुरू किया, मैंने स्वयं को मार्क्सवादियों के सम्पर्क में पाया।

इसके अलावा, मैंने इंगलैण्ड में तेज़ी से बढ़ते भ्रष्टाचार को देखा, जिसने मेरे वैज्ञानिक कार्यों में भी बाधा पहुँचानी शुरू कर दी। मैंने यह भी देखा कि ब्रिटिश सरकार योजनाबद्ध रूप से संधियों और अपने अन्य वायदों को तोड़ रही थी--कुछ इस तरह कि हिटलर और मुसोलिनी को सहायता पहुँच सके।

दिसम्बर १९३६ में मैं स्पेन गया। मैंने पाया कि ब्रिटिश नीति के परिणामस्वरूप, वहाँ ब्रिटिश वालंटियर अपने हाथों में उन्नीसवीं सदी की कनाडियन राइफलें लिये अत्याधुनिक जर्मन टैंकों के सामने खड़े थे, और स्पेन के बन्दरगाह जर्मनों की जलसेना के अड्डे बन रहे थे; यानी, जिन चीज़ों के पक्ष में मैं अब तक लड़ता आया था--जिनमें छोटे राष्ट्रों के अधिकार और प्रजातंत्र की सुरक्षा भी सम्मिलित थे--वह सब जर्मन फौज़ी शासकों के हाथों में सौंपा जा रहा था। इसका कोई अर्थ नहीं था।

लेकिन मार्क्सवादी दृष्टिकोण से इसका भी अर्थ था। इसलिए मार्क्सवाद के राजनीतिक और आर्थिक पहलू को मुझे गंभीरता से लेना पड़ा। इस तरह मैं सिद्धान्त और व्यवहार दोनों से मार्क्सवादी बन गया।

●

संक्षेप में, इस दर्शन का निचोड़ यह है कि यथार्थ वह है, जो होता है। प्रकृति के परे कुछ नहीं है, हालाँकि स्वयं प्रकृति में अभी भी ऐसा बहुत-कुछ है जो हम जान नहीं पाये हैं। प्रेतात्मा या अध्यात्म जैसी किसी चीज़ का कोई अस्तित्व नहीं है। हमारे मस्तिष्क यथार्थ हैं, लेकिन मस्तिष्क के भी पहले पदार्थ का अस्तित्व था; हमारे मस्तिष्क में उत्पन्न होनेवाली संवेदनाएँ और विचार इस यथार्थ के ही प्रतिबिम्ब हैं, हालाँकि वे हैं अपूर्ण प्रतिबिम्ब ही। पूर्ण सत्य के हम बराबर निकटतर होते जा रहे हैं।

परिवर्तन क्रमशः हो सकता है और आकस्मिक भी। जब कोई चीज़

एक खास 'प्वाइंट' से ऊपर बढ़ती है, तो उसमें आकस्मिक परिवर्तन आ जाता है। २१२ फर्नहाइट पर पानी उबलने लगता है। अन्तिम तिनका ऊँट की कमर तोड़ देता है। रचनात्मक परिवर्तन सदैव संघर्ष से ही उत्पन्न होता है। ऊन या कपास से ढँककर रखने से इन्सान अच्छा नहीं बन जाता, बल्कि कठिनाइयों और बुराइयों से जूझता हुआ ही अच्छा बन सकता है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संघर्ष और विपरीतताएँ आन्तरिक ही होती हैं और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भीतर से ही उद्‌भूत होते है।

●

किसी भी समाज का मूलभूत आधार-तत्त्व उसके उत्पादन का तरीका है। पूंजीवाद का जन्म इसलिए नहीं हुआ कि पूंजीपतियों ने जमीन या मजदूरों के यंत्र चुरा लिए थे, बल्कि इसलिए कि सामन्तवाद की अपेक्षा यह अधिक योग्य और कुशल था। इसी तरह अगर पूंजीवाद का ह्रास होगा, तो इसलिए कि न केवल यह समाजवाद से कम योग्य है, बल्कि इसके ह्रास के तत्त्व स्वयं इसी के भीतर निहित हैं।

हर आर्थिक व्यवस्था अपनी विचारधारा, अपने विधि-विधान और राजनीति का निर्माण और विकास करती है। हम आज मध्ययुगीन व्यक्ति की तरह नहीं सोच सकते—चाहें तो भी नहीं। फिर भी, यह तय बात है कि मनुष्य केवल आर्थिक या किसी भी और क़िस्म के भाग्य का दास नहीं है। स्वतंत्रता आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है। यह एक विरोधी बात लगती है, लेकिन है सत्य।

आज के युग में दर्शन का दायित्व

डॉ० कार्ल यास्पर्स

●

जर्मन दार्शनिक। जन्म १८८३, स्विट्जरलैंड के बासेल नगर में। डेनमार्क के अस्तित्ववादी दर्शनिक किर्केगार्ड की दार्शनिक विचारधारा से प्रभावित कार्ल यास्पर्स को 'ईसाई अस्तित्ववादी' माना जाता रहा है। इनके विचारों का केन्द्र व्यक्ति और व्यक्ति के वे प्रयत्न हैं जो वह जीवन, मृत्यु, परिवर्तन, संघर्ष, अपराध आदि की स्थितियों का सामना करने के लिए काम में लाता है।

कार्ल यास्पर्स आजकल बासेल विश्वविद्यालय में दर्शन-शास्त्र के प्राध्यापक हैं।

यास्पर्स की कई पुस्तकों का अँग्रेजी में अनुवाद हो चुका है जिनमें 'मैन इन द माडर्न एज' और 'द पिरीनियल स्कोप आफ़ फ़िलासफ़ी' प्रमुख हैं।

प्रस्तुत लेख 'दिस इज माइ फिलासफी' संकलन में प्रकाशित उनके 'द टास्क आफ फिलासफी इन आवर डे' शीर्षक विस्तृत निबन्ध का संक्षिप्त-रूपान्तर है।

आज दर्शन की क्या उपयोगिता है? प्रश्न पूछने पर हमें उत्तर मिलता है: कुछ भी नहीं, क्योंकि आज दर्शन में यथार्थ का अभाव है; आज तो यह गयी-गुज़री और अनावश्यक बातों में लगे रहनेवाले कुछ विशेषज्ञों के दल का महज़ पर्यायवाची बनकर रह गया है। उनके मतानुसार दर्शन आज निरर्थक है, बीते दिनों का पत्थर का एक स्मारक मात्र, जो समय के थपेड़े खाकर आज ध्वस्त होने की प्रतीक्षा कर रहा है; संक्षेप में यह कि अब दर्शन का कोई कार्य नहीं रहा, उसकी किसी भी तरह की कोई उपयोगिता नहीं रही।

इस पूर्ण नकारात्मक स्थिति में, यह आवश्यक है कि हम एकदम प्रारंभ से ही अपनी विवेचना शुरू करें।

जहाँ कहीं मनुष्य अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में विचारों के माध्यम से सोचने-विचारने लगता है, वहीं दर्शन का जन्म हो जाता है। यह सर्वव्यापी है, भले ही हमलोग इस नाम से इसे न पुकारें। व्यक्ति जब विचार करता है, सोचता है, उसी समय वह दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश कर जाता है। जिस जगह मानदण्ड निर्धारित किये जाते हैं और निर्णय दिये जाते है, वहाँ हम दर्शन को उपस्थित पाते हैं। यह जिस मात्रा में जागरूक और सचेत दार्शनिकों के स्वतंत्र चिन्तन-मनन में पाया जाता है, गिरजाघर के उपदेशों और प्रवचनों में उससे किसी भी क़दर कम नहीं रहता है। यही क्यों, नास्तिकों के विश्वासों में, निहिलिज्म के विनाशकारी विचारों में, मार्क्सवाद में, मनोविश्लेषण में, और जीवन से सम्बन्धित आज अन्य जितने सिद्धान्त प्रचलित है, उन सब में दर्शन का अस्तित्व रहता है। दरअसल, दर्शन के अस्तित्व को नकारने का सिद्धान्त भी स्वयं में एक क़िस्म के दर्शन का ही परिणाम है। अस्तु, दर्शन का कार्य—जिसका कि प्रतिनिधित्व विश्वविद्यालयों के आचार्य-गण करते है—इतिहास के जाने-माने महान् दार्शनिकों की कृतियों द्वारा इसी सर्वव्यापी और अनिवार्य दर्शन को प्रकाश में लाना है। इस कार्य का भी कुछ कम महत्त्व नहीं है।

लेकिन जब हम उन मूलभूत वास्तविकताओं पर विचार करते है, जिन्होंने आज मानवता को चारों ओर से घेर रखा है, तो उक्त व्याख्याएँ कितनी प्रभावहीन और तुच्छ लगने लगती है!

●

आज की सृष्टि पर जिन दो शक्तिशाली ताक़तों का राज्य है, वे है स्वतंत्र दुनिया और टोटैलिटेरियनिज्म की दुनिया। इन दोनों को दृष्टि में रखना दार्शनिक चेतना का एक आवश्यक पहलू है, क्योंकि यही दोनों आज दर्शन की वास्तविक प्रकृति का स्वरूप-निर्धारण करती हैं। दूसरी ओर दार्शनिक विचारधारा ने इन वास्तविकताओं के उद्भव में योग दिया है, और अपनी शक्ति या कमज़ोरी के द्वारा कल की दुनिया की प्रकृति के निर्धारण में भी सहायक यह दार्शनिक विचारधारा ही होगी।

एक ओर स्वतंत्रता के द्वारा उपलब्ध प्रचुर सम्भावनाएँ है; दूसरी ओर मात्र एक मस्तिष्क द्वारा पूर्ण नियंत्रण। एक ओर अन्वेषण, वाद-विवाद और मस्तिष्क तथा पदार्थ का निरन्तर संघर्ष है; दूसरी ओर तथाकथित पूर्ण ज्ञान और षड्यंत्रों का बोलबाला है। एक ओर संभाव्य की सीमाओं के भीतर

व्यक्तिगत योजनाएँ हैं; दूसरी ओर बिना सीमाओं के परिपूर्ण योजनाएं। एक ओर अव्यवस्था की सीमा को छूती हुई विभिन्नता है; दूसरी ओर इस क़दर एकरूपता है कि परिणाम-स्वरूप जिस तरह के चीटियों-जैसे राज्य का निर्माण होता है, उसमें रहनेवाले इन्सान इन्सान नहीं रहते, बल्कि किसी निर्जीव तत्त्व की तरह दल, नौकरशाही, पुलिस और फौज द्वारा निगल लिये जाते हैं।

टोटैलिटेरियन शासन-पद्धतियों की कार्य-प्रणाली इस धारणा पर आधारित है कि उन्हें इतिहास के चक्र और प्रकृति के कार्यकलापों की पूरी जानकारी है। इसी पूर्ण जानकारी के आधार पर वे अपनी पूर्ण योजनाएँ बनाते है। लेकिन किसी के लिए भी सम्पूर्ण विश्व के अन्तरर्बाह्य को अधिकृत कर लेना संभव नही होना; तिस पर भी यदि कोई ऐसा प्रयत्न करता है, तो वह अपनी ताक़त के ज़ोर से विश्व पर अधिकार कर तो सकता ही है, लेकिन यह विश्व को बहुत-कुछ उसी तरह कब्जे में करना होगा, जिस तरह कि एक हत्यारा लाश पर कब्ज़ा करता है। एक सर्व-कल्याणकारी विश्व के निर्माण के लिए अपने समान अन्य इन्सानों के साथ सहयोगपूर्वक कार्य करनेवाली भावना इसमें कहाँ !

टोटैलिटेरियनिज्म के साम्राज्य में दर्शन का सदा के लिए ख़ात्मा कर दिया गया है। जर्मनी में इसका स्थान राजनीति-शास्त्र ने ले लिया है। उधर मार्क्सवाद को बोलशेविज्म ने स्थानच्युत कर दिया है। इसलिए पूर्वी जर्मनी के विश्वविद्यालयों में सभी विद्यार्थियों के लिए अध्ययन का प्रमुख विषय दर्शन न होकर मार्क्सवादी समाजवाद है। राष्ट्रीय समाजवाद और बोलशेविज्म अपने सिद्धान्तों के ही सम्पूर्ण सत्य होने का दावा करते हैं। जो इस सत्य का विरोध करता है, उसका सफ़ाया कर दिया जाता है।

इस तरह के भय के साम्राज्य में विचारकों द्वारा भला किस कार्य में हाथ लगाये जाने की उम्मीद की जा सकती है ? ऐसी पद्धति में व्यक्ति की असहायता स्वयं-स्पष्ट है।

●

स्वतंत्र दुनिया में इससे क्या अन्तर दिखाई देता है ? यहाँ व्यक्ति के संसार पर कोई बाहर से कब्ज़ा नहीं करता। यहाँ इन्सान अपने अन्य साथियों के साथ मिलकर विश्व को जीतने का प्रयास करता है। यहाँ वह क़ानून और व्यवस्था के घेरे में रहते हुए स्वतंत्र प्रतिद्वन्द्विता के द्वारा अपने और अपने प्रभाव को क़ायम रखने का प्रयत्न करता है। यहाँ किसी सर्वज्ञाता और सर्वशक्ति-

शाली ताक़त का पंजा उसके ऊपर सदा कसा हुआ नहीं रहता। अगर कुछ अनुचित और अवांछनीय स्थितियों का अस्तित्व है भी तो वह अच्छे क़ानूनों और बेहतर सुविधाओं के निर्माण द्वारा उन्हें दूर करने का प्रयत्न करता है।

स्वतंत्र दुनिया के क्षेत्र में संभावनाओं की अनेकता के कारण दार्शनिक विचारधार भी अनेक धाराओं में प्रवाहित होती है। यहाँ भी हम व्यक्ति की वही असहायता की भावना उपस्थित पाते हैं—इसलिए कि यहाँ व्यक्ति लाखों-करोड़ों में अकेला होता है। लेकिन कमज़ोरी और असहायता की यह चेतना मूलतः उससे भिन्न है, जिसका अनुभव व्यक्ति को टोटैलिटेरियनिज्म के अन्तर्गत होता है। जिस तरह चुनावों में किसी एक मत का कोई महत्त्व नहीं होता, फिर भी इन मतों का सम्पूर्ण योग ही परिणाम को निर्धारित करता है, उसी तरह स्वतंत्र दुनिया के क्षेत्र में घटनाओं के निर्धारण में व्यक्तिगत कार्य-वाहियों का कोई महत्त्व नहीं होता; लेकिन समझदार व्यक्ति जानते और मानते हैं कि एक मत का महत्त्व कम भले ही हो, अन्तिम परिणाम के निर्धारण में उसका भी अपना महत्त्व और दायित्त्व होता ज़रूर है। इस तरह एक स्वतंत्र व्यक्ति अपने सम्पूर्ण जीवन को मशीन के एक ऐसे सूक्ष्म पुर्जे के रूप में मानता है, जिसका अपना अलग से कोई महत्त्व भले ही न हो, लेकिन पूरी मशीन की गतिविधि को चालू रखने के लिए उसका भी सहयोग अनिवार्य है। व्यक्ति की यही अनुभूति है, जो स्वातंत्र्य की भावना को जीवित रखती है।

●

दर्शन के बहुत-से आचार्यों की यह मान्यता रही है कि एक विश्वविद्यालय में दर्शन का केवल एक ही प्राध्यापक रहना चाहिए; एक से अधिक प्राध्यापक रहेंगे तो वे विद्यार्थियों के दिमाग़ को उलझन में डाल देंगे। कुछ दूसरों ने जिनकी आस्था केवल एक दर्शन की सत्यता में रही है—यह भी आवाज उठायी है कि समूचे राष्ट्र के लिए भी केवल एक ही दार्शनिक रहना चाहिए। निश्चय ही इस सम्मान का एकमात्र अधिकारी वे स्वयं को ही समझते हैं। इन दावेदारों के दर्शन की कथा-सामग्री जो भी रही हो, इनके सोचने की दिशा समान है। ये दरअसल टोटैलिटेरियनिज्म के लिए रास्ता साफ़ कर रहे हैं।

●

आधुनिक युग में आध्यात्मिक ह्रास का एक प्रमुख कारण उलझनभरी

वैज्ञानिक विचारधारा का प्रभाव है। आज हम ज्ञान में आस्था रखते हैं; ज्ञान ही वह शक्ति है जिसकी हम आराधना करते हैं।

कुछ उदाहरण लें :

प्रसिद्ध अँग्रेज़ दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसेल का यह विश्वास है कि मानवता का एक सूत्र में मिलन, ज्ञान के द्वारा ही संभव होगा। लेकिन दरअसल ज्ञान के द्वारा मनुष्य केवल बुद्धि से सम्बन्धित बातों के सम्बन्ध में ही परस्पर मिल सकते हैं, उनके हृदय नहीं मिल सकते। क्योंकि वैज्ञानिक समस्याओं में सहमति का अर्थ भावनाओं की सहमति नहीं होती। मात्र विज्ञान से इस उपलब्धि की अपेक्षा करना विज्ञान के प्रति अन्याय ही साबित होगा।

सन् १९१० की आधुनिकतावादियों की सौगन्ध में एक वाक्य इस प्रकार है : "मेरा विश्वास है कि ईश्वर को उसकी सृष्टि के दृश्य उपादानों द्वारा निश्चित रूप से पहचाना और सिद्ध किया जा सकता है, जिस प्रकार कि किसी भी कार्य द्वारा उसके कारण का पता लगाया जा सकता है।" सचमुच आश्चर्य की बात है! ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण तो केवल आस्था से ही मिल सकता है। लेकिन जो सिद्ध किया जा सकता है, वह आस्था पर निर्भर नहीं रहा करता। जहाँ बुद्धि किसी पदार्थ को सिद्ध कर सकती है, वहाँ आस्था की स्वीकारोक्ति की आवश्यकता ही नहीं रहती।

एक तीसरा उदाहरण टोटैलिटेरियन शासन-व्यवस्थाओं की चिन्तन-प्रणाली का लिया जा सकता है। वे अपने दावों को ज्ञान पर आधारित बताते हैं; लेकिन इस ज्ञान की स्वीकृति के लिए दूसरों से आस्था की माँग करते है। उदाहरण के लिए, उनकी मान्यता है कि "अन्य किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है--सिवाय इस गोचर सृष्टि के, और उसके, जिसको मनुष्य उपलब्ध कर सकता है।" हालाँकि इस कथन की नींव ज्ञान है, लेकिन आश्चर्य है कि उनका यह कथन मुझसे पूर्ण आस्था की माँग करता है, और कहता है कि मुझे पूरी तरह से इसका 'विश्वास' करना चाहिए; इसके सम्बन्ध में किसी तरह की कोई आपत्ति नहीं उठानी चाहिए; कोई संदेह व्यक्त नहीं करना चाहिए; कोई प्रमाण नहीं माँगना चाहिए। संक्षेप में, मुझे इसकी वैज्ञानिक रीति से कोई जाँच नहीं करनी चाहिए।

ये उदाहरण परस्पर एक- दूसरे से चाहे जितने भिन्न हों, ये सब करते हैं एक ही दिशा की ओर इंगित; इन सबका मूल स्वर यही है कि जो सचमुच में आस्था की चीज़ है, उसे हम ज्ञान के द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन आस्था मानव अस्तित्व की वह अनिवार्य शर्त है, जिसका स्थान ज्ञान कभी नहीं ले सकता। विज्ञान जिस चीज़ को कभी उपलब्ध नहीं कर सकता उसी की उससे उपेक्षा की जाती है। यह एक तरह का वैज्ञानिक अन्धविश्वास है, जिसका प्रचार विज्ञान के अंध-भक्तों द्वारा किया जाता है।

●

आज दर्शन का सबसे बड़ा कार्य है कि वह विज्ञान और दर्शन के सम्बन्धों का स्पष्टीकरण करे। यह स्पष्टीकरण वैज्ञानिक अंधविश्वास से हमें छुटकारा दिलाएगा, और परिणामतः एक ओर जहाँ हमारे अनिवार्य आधुनिक विज्ञानों की आश्चर्य-जनक उपलब्धियों का वास्तविक अर्थ और उनकी सीमाएँ निर्धारित करेगा, वहीं दूसरी ओर स्वयं दर्शन की संभावनाओं के प्रति भी हमारे विश्वास की वृद्धि करेगा।

फ्लावर्स आफ़ ईविल की भूमिका के तीन मसविदे

चार्ल्स बॉदलेयर

●

बॉदलेयर ने अपनी पूरी जिन्दगी में कुल १६० कविताएँ ही लिखी थीं। लेकिन वे कविताएँ कैसी हैं, इसका अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है कि इस छोटी-सी पूँजी के बल पर ही उसे न केवल रोमाण्टिक कवियों में सबसे सशक्त माना गया, वरन् सही मानी में फ्रेंच कविता का सर्वप्रथम आधुनिक कवि भी हम उसी को कह सकते हैं। साहित्यिक दूकानदारी में परिमाण नहीं, गुण ही अन्तिम कसौटी होती है—इसका प्रमाण इस कवि की कविताएँ हैं।

९ अप्रैल १८२१ से ३१ अगस्त १८६७—यानी कुल ४६ वर्ष ही बॉदलेयर हमारी इस धरती पर रहा। लेकिन अपने इस छोटे-से जीवन-काल में भी उसने कितनी उथल-पुथल, कितने उतार-चढ़ाव और कितने आँधी-तूफ़ान नहीं देखे-सहे! जब वह सात वर्ष का था, तब उसकी विधवा माँ ने एक सैनिक राजनीतिज्ञ से पुनर्विवाह किया। बचपन से ही बॉदलेयर और उसके इस नये पिता में संघर्ष चलने लगा था, और दरअसल बॉदलेयर की कविताओं में पाया जानेवाला अतिशय व्यक्तिवाद का विद्रोहात्मक स्वर, इसी बालकालीन संघर्ष का परिणाम है। अपने पिता द्वारा सुझाया राजनीतिक जीवन जीने या कोई अन्य निश्चित धंधा अपनाने से, बॉदलेयर ने साफ़ इनकार कर दिया। अवस्था प्राप्त होने पर, उसने अपने पहले पिता से उत्तराधिकार में प्राप्त सारा धन कुल दो ही वर्षों में उड़ा दिया, और इसके बाद पारिवारिक वकील द्वारा हर महीने दी जानेवाली नगण्य-सी रकम और समय-समय पर अपनी माँ द्वारा प्राप्त आर्थिक सहायता से ही, उसे अपना काम चलाना पड़ा। जिस पेरिस को वह इतना प्यार करता था, और जिसे छोड़कर वह अन्यत्र जाना नहीं चाहता था, उसी पेरिस में पैसे की कमी के कारण, उसे क्या-क्या कष्ट नहीं उठाने पड़े! पत्रकारिता और पुस्तकों के द्वारा अधिक पैसा कमाने के उसके प्रयास, स्वास्थ्य से उसका निरन्तर संघर्ष, उसकी धार्मिक चेतना, और कला के प्रति उसकी अडिग एकान्त आस्था—पेरिस इन सबका मूक दर्शक रहा है। हालाँकि यह सच है कि अपने युग की साहित्यिक और कलात्मक गतिविधियों में वह स्वयं भी भाग लेता था; लेकिन सच यह भी है कि अपने ही स्वभाव के कारण वह कभी किसी दल या किसी व्यक्ति के साथ घुल-मिल नहीं सका। इस भीड़-भाड़ और शोरो-गुल से भरे पेरिस में वह सदा नितान्त एकाकी ही रहा।

बॉदलेयर की कविताओं में व्यक्त उसके जीवन-दर्शन को हम स्वीकार करें या न करें, यह मानना होगा कि उसमें कहीं, किसी प्रकार का, उलझाव नहीं है। वह दिन के प्रकाश की तरह साफ़ है। उसका स्पष्ट मत था कि कवि का कर्म उपदेश देना, या भविष्यवाणियाँ करना नहीं, व्याख्या करना भी नहीं; उसका लक्ष्य तो बस सत्य और सुन्दर की अभिव्यक्ति करना है।

बॉदलेयर के दर्शन के विषय में मत-वैभिन्य हो सकता है, लेकिन उसकी काव्यात्मक उत्कृष्टता के सम्बन्ध में सब एकमत हैं। उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति में किसी प्रकार की बनावट या धुंधलापन नहीं। उसकी कविताएँ बहुत छोटी-छोटी हैं, या फिर सॉनेट हैं। छंदों के नये-नये प्रयोगों की ओर उसका रुझान नहीं था; अधिकांश में उसने अलेक्जेण्ड्रिया और दो ही तीन छन्दों में अपनी 'टेकनीक' को सीमित रखा है। समुचित स्थल पर उपयुक्ततम शब्द का उपयोग, वाक्यांशों के गठन की सुदृढ़ता, और लयों तथा ध्वनि-संयोगों की उपयुक्तता उसके प्रभाव का प्रमुख केन्द्र है, जिसके कारण अक्सर उसकी कविता में सांगीतिक सौन्दर्य का जादू-भरा असर पैदा हो जाता था। इन सबसे अधिक, बाद के कवियों को उसकी जिस विशेषता ने सर्वाधिक प्रभावित किया, वह है विभिन्न वस्तुओं, अनुभवों, चेतनाओं और धारणाओं में निहित एकसूत्रता का उसका बोध। उसके इस सिद्धान्त ने काव्य को यह नया आयाम दिया कि समूचा ऐन्द्रिय जगत कवि के ही भीतर से प्रवाहित होता है जो स्वयं भी इसी का अंग है; वह महज बाह्य दर्शक नहीं—जैसी कि पूर्व धारणा थी। टेकनीक की दृष्टि से, इससे एक प्रकार के ऐसे तरल बिम्ब का निर्माण होता है, जिसमें दो प्रतिरूपों के बीच स्पष्ट तुलना दिखलाने की आवश्यकता नहीं रहती, वरन् सहजता से एक प्रतिरूप दूसरे में लीन होता जाता है। वक्तव्यों और वर्णनों का पूरा भाव प्रतीकों के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। आधुनिक कविता की यह एक प्रमुख विशेषता है, और इसी दृष्टि से हम बॉदलेयर को सर्व-प्रथम आधुनिक कवि होने का श्रेय देते हैं। लेकिन साथ ही यह भी सच है कि अगर बॉदलेयर कुल तीस वर्ष और जिन्दा रहा होता, तो यह सम्भव ही है कि वह प्रतीकवादियों की अस्पष्टता और अरूपवादिता को स्वीकार कर लेता। उसका रुझान अचेतन मन की उलझनों को स्पष्ट और ठोस प्रतीकों के माध्यम से पूर्ण चेतनता के धरातल पर ले आने की ओर अधिक था। उसकी प्रतिभा की यह कालजयी उपलब्धि है।

बॉदलेयर की १६० कविताओं का प्रथम संस्करण 'फ्लावर्स आफ़ ईविल' के नाम से २५ जन १८५७ में प्रकाशित हुआ था; इसके प्रकाशित होते ही पेरिस के परम्परावादी साहित्यिक हलक़ों में इतना तूफ़ान मचा कि उसी वर्ष के अगस्त महीने में, बॉदलेयर पर अश्लीलता का मुक़दमा चला, और परिणाम-स्वरूप इस संग्रह की ६ कविताओं पर प्रतिबंध लगा दिया गया।

अपनी इस कविता-पुस्तक के प्रथम-संस्करण में बॉदलेयर का विचार एक भूमिका देने का भी था, और इसके लिए वह पिछले कई वर्षों से टिप्पणियाँ आदि तैयार करता रहा था; लेकिन अन्तिम रूप में भूमिका प्रकाशित नहीं हुई। १८६१ के दूसरे संस्करण के लिए

उसने फिर नये सिरे से कुछ टिप्पणियाँ वग़ैरह तैयार कीं, लेकिन भूमिका प्रकाशित इस बार भी नहीं हुई। १८६८ (यानी उसकी मृत्यु के एक वर्ष बाद) वाले तीसरे संस्करण के लिए फिर उसका विचार भूमिका देने का था, लेकिन इस बार भी इसे अधूरा ही छोड़ दिया गया और अन्त तक भूमिका प्रकाशित नहीं ही हुई। भूमिका के इन तीन मसविदों का केवल ऐतिहासिक महत्त्व ही नहीं, और न ये केवल बॉदलेयर की कविताओं के मूल स्वर को ही व्यंजित करते हैं, वरन् इनका सर्वाधिक महत्त्व इस दृष्टि से है कि अप्रत्यक्ष रूप से, ये व्यक्ति बॉदलेयर के मानसिक और चारित्रिक गठन की कुछ बहुत मोहक झलकियाँ हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। इन तीन मसविदों का अविकल हिन्दी रूपांतर यहाँ प्रस्तुत है।

● पहला मसविदा

फ्रांस गँवारपन के दौर से गुज़र रहा है। पेरिस आज एक ऐसा केन्द्र है, जहाँ से विश्वजनीन मूढ़ता की किरणें विकीर्ण हो रही है। मोलिएर और बेरान्जिर के होते हुए, किसी को इसका कभी विश्वास नहीं हुआ होता कि फ्रांस प्रगति के पथ पर इस गति से बढ़ जाएगा।

महान व्यक्ति मूढ़ होते हैं।

हो सकता है, मेरी पुस्तक ने कुछ उपकार किया हो। मुझे इसका कोई अफ़सोस नहीं। हो सकता है, इसने हानि पहुँचायी हो। मुझे इसकी कोई ख़ुशी नहीं।

काव्य का उद्देश्य। यह पुस्तक मेरी बीवियों, मेरी बेटियों, या मेरी बहनों के लिए नहीं लिखी गयी है।

हर पाप, हर अपराध, जिसका मैंने वर्णन किया है, उसके लिए मुझे दोषी ठहराया गया है।

मनोरंजन के साधनों के रूप में घृणा और तिरस्कार। शोक-गीतों के लेखक फूहड़ तलछट के समान। कवि किसी संस्था का नहीं होता। अन्यथा, वह भी महज़ क्षण-भंगुर होता।

शैतान। मूल पाप। मनुष्य शिव के रूप में। अगर तुम चाहो, तानाशाह के प्रिय-पात्र बन सकते हो। ईश्वर में विश्वास करने की अपेक्षा, उसे प्यार करना अधिक कठिन है। दूसरी ओर, आज-कल लोगों के लिए शैतान को प्यार करने की अपेक्षा, उसमें विश्वास करना अधिक कठिन है। उसकी गंध हर कोई पाता है, लेकिन उसमें विश्वास कोई नहीं करता।

मेरी रुचि की एक आत्मा। दृश्य।—इस प्रकार, नवीनता।—शिला-लेख।—दी' आरेविली—पुनर्जागरण, जेरार्द दे नेरवाल।—हम सब फांसी पर चढ़ चुके हैं, या इसी लायक हैं।

प्रेस के भलेमानुषों को खुश करने के लिए मैंने इस पुस्तक में गंदगी का कुछ अंश भी शामिल किया है। वे कृतघ्न सिद्ध हो चुके है।

● दूसरा मसविदा

यह पुस्तक मेरी बीवियों, मेरी बेटियो या मेरी बहिनों के लिए नही लिखी गयी है, मेरे पड़ोसियों की बीवियों, बेटियों या बहिनों के लिए भी नहीं। यह मैं उन पर छोड़ता हूँ जिनके पास अच्छे कार्यो के साथ सुन्दर भाषा को दूषित कर डालने के अपने कुछ कारण होते है।

मैं जानता हूँ कि सुन्दर शैली का दीवाना-प्रेमी सर्व-साधारण की घृणा का पात्र बनता है, मगर मानवता के प्रति किसी क़िस्म की भी आस्था, किसी क़िस्म का भी झूठा विनय, कोई भी षड्यंत्र, कोई भी विश्वव्यापी पीड़ा, इस युग की अवर्णनीय बकवास का वर्णन करने के लिए, या स्याही को सदाचार के साथ मिलाकर देखने के लिए, मुझे मजबूर नहीं कर सकते।

कुछ प्रख्यात कवियों ने, काव्य-जगत् के अपेक्षाकृत अधिक पुष्पमंडित प्रदेशों को, काफ़ी समय पहले से ही अपने बीच में बाँट लिया है। मुझे यह बड़ा मज़ेदार लगा है, और काफ़ी सुखकर भी, क्योंकि 'पाप' से' सुन्दर' को अलग करने का कार्य और भीक ठिन था। यह पुस्तक, जो तत्त्वतः अनुपयोगी है, और नितान्त निष्कलंक भी, इसके लिखने के पीछे स्वयं का मन बहलाने, और कठिन कार्य के प्रति अपने उत्कट झुकाव का अभ्यास करने के अलावा, मेरा और कोई उद्देश्य नहीं है।

कुछ ने मुझसे कहा है कि ये कविताएँ हानि पहुँचा सकती हैं, मुझे इससे कोई खुशी नहीं हुई है। कुछ दूसरों (भली आत्माओं) ने कहा है कि ये लाभ पहुँचा सकती है, और इससे मुझे कोई अफ़सोस नहीं हुआ है। पहले के भय और दूसरे की सद्भावना, दोनों से मुझे समान रूप से आश्चर्य हुआ है, क्योंकि इससे पुनः इस बात की पुष्टि ही हुई है कि इस युग ने साहित्य के सारे कालजयी अभिप्रायों के पुराने पाठों को भुला दिया है।

कुछ प्रसिद्ध महापंडितों द्वारा, मनुष्य की प्रकृत मूढ़ता को दिये जानेवाले प्रोत्साहन के बावजूद, मैं कभी इसका विश्वास नहीं कर पाया था कि हमारा देश 'प्रगति' के पथ पर इस तीव्र गति से बढ़ सकेगा ! इस दुनिया ने गँवारूपन की इतनी मोटी तह अपने ऊपर चढ़ा ली है कि इसके कारण एक आध्यात्मिक व्यक्ति की घृणा उद्वेग के हिंसात्मक शिखर तक चढ़ जाती है। लेकिन ऐसे छिपे हुए सुखी इन्सान भी हैं जिनकी चमड़ी इतनी मोटी है, कि ख़ास ज़हर भी उसको नहीं भेद सकता।

प्रारंभ में, मेरा विचार था कि बहुत-सी आलोचनाओं का उत्तर दूँ, और साथ-ही-साथ कुछ उन निहायत ही सरल, सहज प्रश्नों की व्याख्या भी करूँ, जिनको आधुनिक उदारचेताओं ने बुरी तरह दुर्बोध कर रखा है। कविता क्या है; इसका उद्देश्य क्या है; 'शिव' और 'सुन्दर' में क्या अन्तर है; 'पाप' में 'सुन्दर' क्या है; लय और तुक, इन्सान की एकरूपता, समरसता और कुतूहल की सर्वकालिक आवश्यकता की पूर्त्ति करती हैं; विषय के अनुरूप शैली का निर्माण, प्रेरणा की निस्सारता और ख़तरे आदि-आदि; किन्तु आज सुबह में इतना अविवेकी हो उठा कि मैंने जनता के कुछ समाचार-पत्र पढ़ लिये; अकस्मात् बीस वायुमंडलों के वज़न का आलस मेरे ऊपर टूट पड़ा, और मैं रुक गया—किसी को भी, किसी भी तरह बात समझाने की भयावनी व्यर्थता के बारे में सोचकर। जो जानते हैं वे मेरी बात का अनुमान लगा सकते है, और जो समझ सकते नहीं या समझेंगे ही नहीं, उनके लिए कैफ़ियतों और व्याख्याओं का अम्बार लगाना व्यर्थ ही होगा।

●

कि एक निश्चित बतायी गयी संख्या के अभ्यासों द्वारा कलाकार उसी अनुपात में किस तरह अपनी मौलिकता बढ़ा सकता है,

कि कविता किस तरह छंद-शास्त्र के माध्यम द्वारा संगीत से संबंधित है, छंद-शास्त्र जिसकी जड़ें किसी भी कालजयी सिद्धांत द्वारा प्रदर्शित किये जाने की अपेक्षा मानव-आत्मा में अधिक गहराई तक पैठी हुई हैं,

कि लैटिन और अँग्रेज़ी भाषाओं की तरह फ्रांसीसी कविता के पास एक रहस्यमय और अपरिचित छन्दशास्त्र है,

कि क्यों कोई भी ऐसा कवि जो यह भी ठीक से नहीं जानता कि हर शब्द की अपनी कितनी लयें और तुकें होती हैं, किसी भी प्रकार के विचार को अभिव्यक्ति देने के अयोग्य समझा जाता है,

कि काव्यात्मक वाक्य-खंड,किसी भी सीधी-लेटी रेखा और ऊपर चढ़ती या नीचे उतरती सीधी-खड़ी रेखा की नक़ल कर सकता है [और इस दृष्टि से यह संगीत-कला और गणितशास्त्र के सदृश्य है],

कि यह बिना हाँफ़े स्वर्ग तक सीधी चढ़ती चली जा सकती है, अथवा किसी भी भारी वज़न के समान तीव्र गति से सीधी नर्क में उतरती चली जा सकती है,

कि एक के ऊपर एक थोपे गये अनेक कोणों के द्वारा यह किसी भी चक्राकार घेरे का अनुगमन कर सकती है, अनुवृत्त का या किसी भी टेढ़ी-मेढ़ी घुमावदार वस्तु का बखूबी वर्णन कर सकती है ,

तीखे या मीठे भाव को, परम आनन्द या भयावने दुःख की भावना को अभिव्यक्त कर सकने की अपनी क्षमता में कविता भी चित्र-कला, पाकशास्त्र और सौंदर्य-प्रसाधन की कलाओं के सदृश्य ही है, और सादृश्य या विरोध की पद्धति द्वारा किसी एक संज्ञा के साथ कोई एक विशेषण जोड़कर वह इस लक्ष्य को प्राप्त कर लेती है,

मेरे सिद्धांतों पर निर्भर रहकर, और बीस पाठों के द्वारा मैं जिस ज्ञान को सिखाने का जिम्मा लेता हूं उसके उपयोग द्वारा, कैसे कोई व्यक्ति ऐसा दुःखांत नाटक लिखना सीख सकता है, जिसकी किसी दूसरे नाटक से अधिक छीछालेदर नहीं होगी, या कैसे कोई इतनी लम्बी कविता लिख सकता है, जो आज तक के लिखे किसी भी महाकाव्य के समान ही नीरस हो,

इस अलौकिक दृढ़ता तक ऊंचा उठ पाना सचमुच काफ़ी कठिन है, क्योंकि अपने निहायत ही प्रशंसनीय प्रयत्नों के बावजूद अपने सम-सामयिकों को खुश करने, कई जगहों पर गवाह के रूप में खड़े होने, सजावट की तरह इस्तेमाल होने, जनतंत्र के प्रति निहायत हलके किस्म की खुशामदाना बातों की अभिव्यक्ति करने, और अपने विषय की शुष्कता की क्षति-पूर्त्ति के लिए अपनी पुस्तक में थोड़ी-सी गंदगी शामिल करने आदि की अपनी इच्छाओं को मैं स्वयं ही दबाने में सफल नहीं हो सका हूं । लेकिन इस प्रकार के कोमल सत्कारों के प्रति प्रेस के भलेमानुषों को अकृतज्ञ पाकर, मैंने अपने इस नये संस्करण में, जहाँ तक संभव हुआ, इनके हर आसार को हटा दिया है ।

अपनी इस पद्धति की उत्कृष्टता को फिर से सिद्ध करने के लिए, मेरा विचार है कि मैं निकट भविष्य में ही, भक्ति-रस के आनन्दों और फ़ौजी प्रतिष्ठा के आह्लादों का उत्सव मनाते समय इसका उपयोग करूँगा, हालाँकि मैंने इन दोनों में से आज तक किसी को भी नहीं जाना है ।

साहित्यिक चौर्य-कला पर टिप्पणियाँ : टॉमस ग्रे । एडगर पो [२ अंश] । लांग फ़ेलो [२ अंश] । स्टेटियस । वरजिल [सम्पूर्ण अन्ट्रोमाक] । एकीलस । विक्टर ह्यूगो ।

● तीसरा मसविदा

अगर नहीं समझा जाता, या बहुत कम समझा जाता, यश की बात है, तो मैं बिना आत्मश्लाघा के कह सकता हूँ कि इस लघु पुस्तिका के द्वारा एक ही बार में, मैंने स्वयं को उस यश के योग्य सिद्ध कर दिया है, और उसे पा लिया है। जो पुस्तक कई बार विभिन्न प्रकाशकों की सेवा में पेश हुई, जिन्होंने तिरस्कार के साथ उसे अस्वीकार कर दिया, मुक़दमा चला और नितान्त पागलपूर्ण भ्रम के परिणाम-स्वरूप १८५७ में अंग-भंग की गयी, फिर कई वर्षों की खामोशी के बीच धीरे-धीरे पुनर्जीवित की गयी, महज फिर से अदृश्य होने के लिए, जिसका श्रेय मेरी घटती दिलचस्पी को है, 'आधुनिक युग की सरस्वती' की यह प्रतिकूल उपज—कई नये और तीखे स्पर्शों के द्वारा फिर से जीवित की गयी : वही आज फिर तीसरी बार प्रकाश को मूढ़ता का सामना करने का साहस कर रही है।

इसके लिए दोषी मैं नहीं, बल्कि एक जिद्दी प्रकाशक है, जिसका खयाल है कि जनता की अरुचि से भिड़ने के लिए उसमें काफी शक्ति है। "यह पुस्तक तुम्हारे समूचे जीवन पर एक धब्बा रहेगी," मेरे एक दोस्त ने जो महान् कवि है, शुरू में ही यह भविष्यवाणी कर दी थी। और सचमुच, मेरे सारे दुस्साहसपूर्ण कार्यों ने उसके कथन की पुष्टि की है। लेकिन मैं उन कुछ सुखी चरित्रों में हूँ, जो घृणा में से मज़ा लेते हैं, और तिरस्कार से स्वयं को प्रतिष्ठित महसूस करते है। मूढ़ता के प्रति अपनी शैतान अभिरुचि के कारण, मिथ्या आक्षेपों के मिथ्यात्व को सिद्ध करने में मुझे एक विचित्र क़िस्म का आनन्द मिलता है। काग़ज के समान पवित्र, जल के समान संयमी, ईसा के स्मरणार्थ आयोजित भोज के समय की किसी औरत के समान पुण्यात्मा, और बलिवेदी पर खड़ी भेड़ के समान निर्दोष होते हुए भी, मुझे एक व्यभिचारी, शराबी, नास्तिक और हत्यारा समझा जाता है, तो भी मैं अप्रसन्न नहीं होता। मेरे प्रकाशक का आग्रह है कि यह मेरे और उसके, दोनों के लिए उपयोगी होगा—अगर मैं इस बात को स्पष्ट कर दूँ कि मैंने यह पुस्तक क्यों और कैसे लिखी, मेरे साधन क्या थे, और साध्य क्या था, योजना और पद्धति क्या थीं। इस प्रकार का समीक्षात्मक विश्लेषण

केवल उन दिमाग़वालों के लिए रुचिकर हो सकता है, जो अलंकार-शास्त्र के भक्त है। उनके लिए मैं कदाचित् बाद में लिखूंगा, और उसे दस भागों में प्रकाशित करवाऊँगा। लेकिन, दुबारा सोचने पर, क्या यह साफ़ नहीं हो जाता कि इस प्रकार का कार्य सभी सम्बन्धित व्यक्तियों के लिए नितान्त व्यर्थ सिद्ध होगा, क्योंकि वे ही तो मस्तिष्क है जो पहले से जानते हैं, या अनुमान लगा सकते है; और इनके अलावा जो है वे कभी समझेंगे ही नहीं। एक कला-कृति को जन-समुदाय के बीच समझाने की बात को लेकर, मुझे बराबर यह भय लगता रहा है कि मैं कहीं स्वयं को उपहासास्पद न बना डालूं। ऐसा करने में, मुझे उन यूरोपियनों के सदृश्य दिखने का भय रहता है, जो आशा करते है कि क़ानून की एक ही धारा के द्वारा वे सारी फ्रांसीसी जाति को धनी और सदाचारी बना देंगे। इसके अतिरिक्त, मेरा सर्वोत्तम और सबसे सशक्त कारण यह है कि इससे मुझे झुंझलाहट होती है। क्या हम भीड़ को, दर्शकों को, पर्दों के पीछे, पोशाकों और दृश्य-निर्माताओं के कारख़ानों में और अभिनेत्रियों के वस्त्र बदलने के कमरों में आने के लिए आमंत्रित करते हैं? क्या हम जनता को (जो आज उत्साही है, तो कल उदासीन) हमारे प्रयत्नों के पीछे की सूक्ष्म कार्य-प्रणाली दिखाते है? क्या हम पूर्वाभिनय के समय किये गये संशोधन और परिवर्द्धन की भी कभी व्याख्या करते है? क्या उन्हें यह भी बताते हैं कि अंत प्रेरणा और ईमानदारी के साथ, बनावट और छल का कितना अंश मिला हुआ होता है—ये सब जो कि अनिवार्य अंग है उस मिश्रण के, जिसे हम कला-कृति कहते है। चिथड़ों का ढेर, गालों पर लगाने की लाली, लोहे की चरखियाँ और ज़ंजीरें, किये हुए परिवर्तन, बुरी तरह कटे-छंटे प्रूफ़ के काग़ज़—संक्षेप में वे सब भयप्रद और घृणोत्पादक वस्तुएँ जिनसे मिलकर कला का देवालय बनता है—क्या ये सब भी हम उन्हें दिखाते हैं?

जो हो, आज मेरा 'मूड' यह सब करने का नहीं है। किसी प्रकार का भी प्रदर्शन करने, आश्चर्यचकित करने, मनोरंजन करने या विश्वास दिलाने की मेरी बिल्कुल इच्छा नहीं है। मेरी अपनी सनकें है, और मेरे अपने चक्कर। मेरी आकांक्षा पूर्ण आराम और अनन्त रात्रि के भोग की है। हालाँकि मैंने शराब और अफ़ीम से पागल कर देनेवाले सुख के गीत गाये हैं, आज मैं महज़ एक ऐसे पदार्थ का प्यासा हूँ जिसको इस धरती ने कभी नहीं जाना; साक्षात् स्वर्ग के औषधि-निर्माता भी मुझे जो उपलब्ध नहीं करा सके हैं; एक ऐसा पदार्थ जिसमें न जीवन हो और न मृत्यु; न उद्दीपन हो और न निर्वाण। कुछ

भी नहीं जानूँ, कुछ भी नहीं सिखाऊँ, कुछ भी नही चाहूँ, न कुछ महसूस करूँ ; सोऊँ और केवल सोऊँ—आज मेरी यही एकमात्र आकांक्षा है, घृणित और नीच, लेकिन साथ ही हार्दिक ।

फिर भी, चूंकि परिष्कृत रुचिवाले हमें सिखाते हैं कि कभी-कभी हम स्वयं ही अपनी बातों का विरोधी प्रमाण देने में डरें नहीं, इसलिए इस घिनौनी पुस्तक के अन्त में मैंने कुछ ऐसे व्यक्तियों के, जिनको मैं काफ़ी मान देता हूँ, सहानुभूतिपूर्ण प्रमाण-पत्र इकट्ठे कर दिये है, ताकि एक तटस्थ पाठक उनसे यह परिणाम निकाल सके कि मैं एकदम से बहिष्कार ही किये जाने के योग्य नहीं हूँ, और चूंकि कुछ व्यक्तियों का प्यार पाने के लायक़ मैं स्वयं को बना सका हूँ, इसलिए मेरा हृदय, भले ही इसके बारे में चाहे जैसी बातें कहीं और लिखी गयी हों, शायद 'मेरे चेहरे के समान ही भयानक रूप से कुरूप' नहीं है ।

अन्त में, वह असामान्य उदारता जो उन भलेमानुषों ने, आलोचकों ने....

चूंकि अज्ञान बढ़ता जा रहा है...

मैं स्वयं इसकी घोषणा करता हूँ कि अनुकरण का नाश हो...

आहत पीढ़ी और नाराज युवकों का मैनीफ़ेस्टो

जीन फेल्डमान और मैक्स गरटेनबर्ग

●

अमेरिका और इंगलैण्ड की अधुनातन साहित्य-धारा 'आहत पीढ़ी' और 'नाराज युवकों' की है। इनकी अलग-अलग कृतियाँ पिछले कुछ वर्षों से दोनों देशों में प्रकाशित होती रही हैं, लेकिन इनके सभी प्रतिनिधि लेखकों की रचनाओं का पहला महत्त्वपूर्ण संकलन 'प्रोटेस्ट' नाम से हाल में प्रकाशित हुआ है। हमारे आज के युग के सर्वाधिक निन्दित और प्रशंसित रचनाकारों की रचनाओं के इस संकलन की भूमिका भी विशेष महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें पहली बार इन दोनों साहित्य-धाराओं की समस्त खूबियों और खामियों पर तटस्थ दृष्टि से विचार किया गया है।

'प्रोटेस्ट' की इस ऐतिहासिक महत्त्व की भूमिका का संक्षिप्त-रूपान्तर यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

आधुनिक इतिहास संज्ञाओं में लिखा जाता है। फ़ासिज्म, नाज़ीवाद, साम्यवाद, समाजवाद, हिटलर, स्टालिन, पर्ल हार्बर, हिरोशिमा, मास्को, माल्टा, हंगरी, स्वेज.....ऐसे नाम जो हिंसा और विनाश, अपराध और धोखा और आत्मिक ह्रास के प्रतीक हैं। और इन शब्दों से जो अनुभूतियाँ मन में होती हैं, उनके ऊपर पालथी मारकर बैठा हुआ वह सूत्र है, जिसकी भयानक महत्ता को हम एक क्षण के लिए भी नहीं भूल पाते : $E=Mc^2$ अर्थात् परमाणु की कुंजी।

यह सच है कि जीवन की ऊपरी सतह पर इन सबका प्रभाव दिखाई नहीं देता। सड़क पर लड़के मौज में सीटी बजाते हुए घूमते हैं, भीड़ें इधर-उधर निश्चिन्तता से आती-जाती रहती हैं, हज़ारों-लाखों दफ़्तरों में सदा की तरह नौ से पाँच बजे तक काम-धंधा चलता रहता है; लेकिन आधुनिक जीवन की इस सामान्य और दुरुस्त-सी दिखाई देती विशाल इमारत में ह्रास के चिह्न भी दृष्टि-

गोचर होने लगे है—प्रति दिन इसका कोई-न-कोई हिस्सा टूटकर गिरता दिखाई देता है। यह ठीक है कि मनुष्य अपने रोजमर्रा के कार्यों को करते समय निश्चिन्तता की नक़ाब चेहरे पर चढ़ाये रहता है, लेकिन साथ ही इस लगातार टूटते जीवन की ओर से वह पूर्णतः आँखें बन्द भी नहीं रख सकता; परिणाम यह कि मनुष्य अपने भीतर-ही-भीतर धीरे-धीरे अधिकाधिक खंडित होता जा रहा है। वह अपने चारों ओर फैलती अव्यवस्था और विशृंखलता के आसारों को देखता है, और परिणामतः महसूस करता है, स्वय की नग्नता और नपुसकता—अपनी निरर्थकता। वह अनुभव करता है कि समय अपने भीतर ही सिमटता जा रहा है; विगत की कोई सार्थकता नहीं और आगत उसके नियंत्रण से दूर और दूर हटता जा रहा है। केवल वर्त्तमान क्षण ही ऐसा है, जो उसके लिए अर्थ रख सकता है; वही ऐसा है, जिस पर वह अधिकार रख सकता है।

केवल वर्त्तमान मे ही रहने का उसका यह निश्चय उसे मजबूर करता है कि वह स्वयं को उन मूल्यों से काटकर अलग कर ले, जिनके कारण वह अपने-आपको इतिहास का नायक समझता आया था। वे सस्थाएँ भी जो कभी उसके उद्देश्यों की प्राप्ति मे उसके लिए सहायक सिद्ध हुई थी, अब कड़ी कसौटी पर कसी जाती हैं; मसलन् विवाह कभी पारिवारिक जीवन के स्थायित्व के लिए आवश्यक समझा गया था, वह इस युग मे निरर्थक प्रतीत होने लगा है, जहाँ आनेवाले कल के क्षितिज पर संभाव्य विनाश के बादल मँडराते दिखायी देते है। श्रम और कार्य, जो कभी उन्नति और प्रगति के लिए आवश्यक समझा जाता था, आज ऐसा लगने लगा है मानो समय का व्यर्थ नाश हो। मतलब यह कि आज कोई भी ऐसी संस्था या कोई भी ऐसा कार्य, जिसका फल लम्बे समय के बाद जाकर उपलब्ध होता हो, उसका महत्त्व मनुष्य की आँखो मे मिट चुका है। वे सब विश्वास, जो किसी और उद्देश्य की प्राप्ति में साधन मात्र हों, आज निरर्थक समझे जाने लगे है।

आज का मनुष्य सोचता है कि क्या वह अब भी उन भ्रान्तियों का शिकार बना रहे, जिनके बारे मे वह जानता है कि वे असत्य है? अथवा वह इस झूठी प्रतिष्ठा की नक़ाब को फाड़ डाले और जीवन के ऐसे क्षेत्र में प्रवेश करे, जहाँ स्वयं के एकाकीपन और किसी भी समय आ दबोचनेवाली मृत्यु की सम्भावना की स्वीकृति के द्वारा वह स्वतन्त्रता और स्वयं के अस्तित्व की सार्थकता के तत्वों को पा सकता है। यही वह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है जो एटलाण्टिक महासागर के दोनों ओर रहनेवाले युवक-लेखकों के सम्मुख आज उपस्थित है।

●

अमेरिका में इन नये लेखकों को, जिन्होंने वर्तमान के ही घेरे में अपने जीवन को सीमित कर लिया है, 'आहत पीढ़ी' (बीट जैनरेशन) की संज्ञा दी गई है, और इंगलैण्ड में इन्हें 'नाराज युवक' (एंग्री यंगमैन) कहा जाता है। यह 'आहत पीढ़ी' और यह 'नाराज युवक' मूल में सामाजिक घटनाएँ हैं, जिन्होंने साहित्यिक अभिव्यक्ति पायी है। चूंकि दोनों ही इस मध्य बीसवीं शताब्दी में जीवन के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करते हैं, इनका साहित्यिक कृतित्व भी हमारे लिए विशेष महत्त्व रखता है। बहुत संभव है, आगे चलकर यही लेखक एक महान नैतिक क्रान्ति की अवतारणा करें—एक ऐसी क्रान्ति जो मनुष्य को 'इतिहास के प्राणी' की जगह 'अनुभूति के प्राणी' में बदल दे। एक ऐसी क्रान्ति जो अपनी नींव के रूप में हैडेगर और सार्त्र के अस्तित्ववादी दर्शन का उपयोग कर सकती है; क्योंकि ये लेखक भी—अपने दार्शनिक मसीहाओं की तरह—जीवन को एक निरन्तर चिन्ता की स्थिति के रूप में लेते है, ये भी ऐसा मानते हैं कि आज का मनुष्य जीवन में एक अर्थ की खोज में व्यस्त है।

'आहत पीढ़ी' नाम का आविष्कारक कोलम्बिया युनिवर्सिटी का एक फुटबॉल खिलाड़ी जैक कॅरॉक है। इस नाम का उपयोग वह अपने लिए और अपने कुछ दोस्तों के लिए करता था, जो उसके मतानुसार, इस मध्य बीसवीं शताब्दी में अमेरिका के युवकों के जीवन में पायी जानेवाली जटिलताओं का प्रतिनिधित्व करते थे। 'कस्बा और शहर' नामक अपने पहले उपन्यास में उसने इस नाम की परिभाषा की, और न्यूयॉर्क के जिस अण्डरग्राउण्ड जीवन को उसने देखा था, उसे साहित्यिक अभिव्यक्ति दी—एक ऐसा अण्डरग्राउण्ड जीवन जिसमें वे व्यक्ति सम्मिलित थे, जो जीवन के हर प्रकार के अनुभव का सम्पूर्ण रूप से स्वाद लेने के लिए कटिबद्ध थे। अपने इस उपन्यास में उसने जिस प्रकार के पात्र प्रस्तुत किये थे, वे उसके निकटतम साथियों से ही लिए गये थे। धीरे-धीरे यह नाम अधिक विस्तार पाता गया, और इसमें वे सभी लेखक गिने जाने लगे, जो इस मध्य बीसवीं शताब्दी में एक विशेष दृष्टिकोण रखते थे।

इस दृष्टिकोण की प्रमुख विशेषताएँ हैं : विगत और आगत को सम्पूर्ण रूप से अस्वीकृत करना, अधिकारी वर्ग के प्रति विद्रोह, 'स्क्वायर' के प्रति घृणा, (स्क्वायर वे उस व्यक्ति को कहते हैं, जो जीवन का हर कार्य करते समय सुरक्षा का सबसे अधिक ध्यान रखता है, जो अपनी भ्रान्तियों की लीक पर ही चलता है, और समझता है कि उसी का जीवन सब तरह के सुन्दर नैतिक मूल्यों का प्रति-

रूप है)। यही सब प्रवृत्तियाँ हैं, जो नोरमन मेलर, वान्स बोरजेली, नेल्सन एलग्रेन, हरबर्ट गोल्ड, चैण्डलर ब्रोसार्ड, अनातोले ब्रोयार्ड, जार्ज मैण्डले और आर. ह्वी. कैसिल जैसे तत्कालीन युवक अमरीकन लेखकों की कृतियों में अधिकाधिक अभिव्यक्ति पाती जा रही थीं। इस आहत पीढ़ी के लेखकों का दावा है कि इन्होंने जीवन की निरर्थक रस्साकशी की होड़ से, जिसमें कि स्क्वायर क़िस्म के व्यक्ति जी-जान से लगे हुए हैं, स्वयं को अलग रखा है। इन्हें इस होड़ में होनेवाली विजय से प्राप्य पुरस्कार ही व्यर्थ नहीं लगते, वरन् इसके लिए किया जाने वाला प्रयत्न—जो कि मनुष्य जीवन का एक बहुमूल्य तत्त्व है—ही एक ऐसे खेल के लिए नष्ट किया गया समय लगता है जो जागरूकता को मार डालता है और भावना को पाशविक बना देता है। जीवन में सफलता पाने के लिए जिस प्रकार के अभिनय की आवश्यकता होती है, जैसी नक़ाब ओढनी पडती है, उससे आहत पीढ़ी को सख्त नफ़रत है। यह जीवन के हर क्षेत्र को अनावृत्त करके उसके भीतर तक पैठने की कोशिश करती है, क्योंकि आहत होने का मतलब ही यह है कि यह पीढ़ी संभावित पराजय से अपने को परे समझती है। अपने आहतपन के कारण यह पीढ़ी चाहती ही नहीं कि प्रकृति या घटनाओं या मनुष्यों पर नियन्त्रण करने की कोशिश करे। इसकी अपेक्षा यह तो अस्तित्व के वास्तविक प्रवाह में स्वयं को बहा देना चाहती है।

अस्तु इस आहत पीढ़ी का मूल सिद्धान्त सीधे-सीधे इस प्रकार कहा जा सकता है: विनाश की ओर क्रमशः बढ़ती इस पृथ्वी पर जीवन को जीने का एकमात्र रास्ता यही है कि यथार्थ का, उसके असली रूप मे, सामना किया जाय—यथार्थ जैसा कि हरेक व्यक्ति अपने जीवन के सुख और दुख के क्षणों में पाता है। इसके अलावा जो भी कुछ है वह या तो एक मज़ाक है या धोखा। ये 'स्क्वायर' की बात नहीं करते जो आत्म-तुष्टि के साम्राज्य के महल में बैठा हुआ चित्र में बनी हुई एक नक़ली खिड़की में से झाँककर सन्तोष कर लेता है। 'आहत' व्यक्ति यह जानता है कि वह अकेला है, और यह भी जानता है कि उसकी समस्या यही है कि वह किस प्रकार अपनी अकेलेपन की इस जानकारी के साथ जीना सीखे।

परिणामतः उसका प्रमुख लक्ष्य आत्मान्वेषण है; यह पता लगाना है कि तत्काल अनुभूति के साथ उसका स्वयं का क्या सम्बन्ध है। चूंकि कल में उसे आस्था नहीं है, इसलिए आहत व्यक्ति के लिए केवल उन्हीं सम्बन्धों का मूल्य है, जो उसके वर्त्तमान अस्तित्व के सत्य को प्रकाश में लाते हैं। अन्य सभी व्यक्ति और सभी स्थान उसके लिए केवल ऐसे साधन मात्र हैं, जिनके द्वारा वह

अपने अस्तित्व को नाप-जोख सकता है। इसलिए वर्त्तमान क्षण के बाहर का कोई भी व्यक्ति उसके लिए महत्त्व नहीं रखता।

आहत पीढ़ी राजनीति को कतई महत्त्व नहीं देती। उसे तो यह एक ऐसा अखाड़ा समझती है जिसमें 'स्क्वायर' व्यर्थ के शब्दों का खिलवाड़ करते हैं। आहत व्यक्ति बहुत अच्छी तरह जानता है कि शब्द झूठ को छिपाने के, और धोखे को सत्य का रूप देने के साधन मात्र है। आहत व्यक्ति अपना केवल एक ही दायित्व मानता है: अपनी इन्द्रियों को अधिकाधिक संवेदनशील और तेज़ बनाना, ताकि वह अपने आप-पास के 'अण्डरग्राउण्ड' जीवन को अधिक तीव्रता से अनुभव कर सके।

●

इंगलैण्ड के 'नाराज युवक' मुख्यतः निम्न-मध्यवर्ग और श्रमजीवी वर्ग की सन्तान हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जब इनकी अवस्था कुछ समझने-बूझने लायक हुई, उस समय इंगलैण्ड में मजदूर दल की सरकार थी, लेकिन जल्दी ही उसकी जगह टोरी विचारधारा के व्यक्तियों की सरकार बनी। इंगलैण्ड जैसे 'वेलफ़ेयर' राज्य में एक ऐसे वर्ग की सरकार—जिसकी आधार भूमि ही विशेषाधिकारों के सिद्धान्त पर टिकी हो—निश्चय ही एक सामाजिक असंगति मानी जायेगी। ये नये लेखक अवस्था प्राप्त होने पर जब जीवनसंग्राम में उतरे, तो इन्होंने इस असंगति को बहुत कटुता से महसूस किया; इन्होंने पाया कि नये इंगलैण्ड की इस नयी जीवन-व्यवस्था में इनके लिए कहीं कोई स्थान नहीं है।

चूंकि ये भूले नहीं थे कि ये उस निम्न-मध्यवर्ग और श्रमजीवी वर्ग की सन्तान हैं, जिनके जीवन की बेहतरी के लिए इनके पिताओं ने बराबर संघर्ष किया था, इसलिए इन्होंने भी वर्त्तमान जीवन की असंगत व्यवस्था के प्रति अपना विरोध प्रगट किया। यह सच है कि आहत पीढ़ी की तरह इन्होंने अपना अलग अण्डरग्राउण्ड संसार बसाने की कोशिश नहीं की; ये तो इसी वास्तविक जीवन में प्रवेश पाना चाहते थे जहाँ शक्ति और सम्पन्नता अठखेलियाँ कर रही थीं। शुरू-शुरू में ज़रूर शासकवर्ग इनके प्रति कुछ सतर्क हुआ, लेकिन जल्दी ही यह स्पष्ट हो गया कि ये लेखक किसी नयी क्रान्ति के उद्घोषक नहीं थे। इनमें लक्ष्य की एकरूपता भी नहीं थी। इनमें कुछ समाजवादी थे, तो कुछ टोरी दल के समर्थक, तो कुछ अन्य ऐसे भी थे, जो राजनीति मात्र में ही कोई दिलचस्पी नहीं रखते थे।

इंगलैण्ड के साहित्यिक क्षेत्र में इन नये लेखकों का आगमन काफ़ी शोरगुल

के साथ हुआ। हालाँकि इनकी पुस्तकें बहुत अधिक तादाद में बिकीं, ये अपनी पीढ़ी के अलावा और किसी से भी सहयोग या सहानुभूति नहीं पा सके। चूँकि ये साहित्य को शुद्ध कला के रूप में न लेकर उसे अपने असन्तोष की अभिव्यक्ति का एक साधन मात्र मानते थे, इसलिए पुराने लेखकों द्वारा इनकी उपेक्षा की गई; मसलन् प्रीच्चेट और मॉम जैसे बुजुर्ग लेखक इन नये युवक लेखकों की रचनाओं में पायी जानेवाली अशिष्टता और अश्लीलता के कारण इन्हें नापसन्द करते थे। चूँकि ये मूलतः अपने को श्रमजीवी वर्ग ही मानते थे और उच्चवर्गीय संस्कृति और सभ्यता के प्रति एक प्रकार के सन्देह और विरोध का रुख रखते थे, इसलिए टोरी दल को इन्होंने अपना दुश्मन बना लिया। दूसरी ओर ये वामपंथीय उद्देश्यों का समर्थन भी नहीं करते थे, इसलिए मज़दूर दल इन्हें सन्देह की निगाहों से देखता था।

प्रश्न उठता है कि आखिर अँग्रेज लेखकों की यह नयी पीढ़ी चाहती क्या थी? ये जीवन-संघर्ष में आगे बढ़ने के समान अवसर चाहते थे, जिनसे इंगलैण्ड की विशेषाधिकारों वाली वर्ग-व्यवस्था ने इनके बाप-दादों को वंचित रखा था। अपने वर्ग की परम्परागत जड़ों से कटकर इन्होंने विश्वविद्यालयों में शिक्षा पायी थी; और शिक्षा के बाद जब ये जीवन-संघर्ष में उतरे, तो इन्हें अपने आगे जो भविष्य दिखाई दिया, वह सामान्यता और महत्त्वहीनता का जीवन था। इसलिए आहत पीढ़ी की तरह इन्हें भी परिस्थितियों से मज़बूर होकर वर्त्तमान में ही अर्थ खोजना पड़ा; और 'अभी' के लुहारखाने में ही अपने अस्तित्वों को गढ़ना पड़ा।

वस्तुतः 'नाराज युवक' का लेबल इनके वास्तविक स्वरूप को प्रकट नहीं करता। यह नाम फ्लीट-स्ट्रीट का आविष्कार है, जो सही अर्थ की अपेक्षा अपने नाटकीय स्वाद के कारण प्रचलित हो गया। इंगलैण्ड के साहित्यिक क्षेत्रों में 'नाराज युवक' नाम का उल्लेख मात्र, हँसी और उपहास की फुलझड़ियाँ छोड़ने के लिए पर्याप्त है—यहाँ तक कि जिन लेखकों पर यह लेबल लगाया जाता है, उनमें भी यह नाम यही प्रतिक्रिया पैदा करता है। नाराजी से इन लेखकों का दूर का भी सम्बन्ध नहीं। १९३० की वामपन्थी विचारधारा के लेखकों की तरह सामाजिक या राजनीतिक क्रान्ति द्वारा वर्त्तमान व्यवस्था के परिवर्तन का भी इनका क़तई उद्देश्य नहीं। १९५० की पीढ़ी के ये नाराज युवक अगर किसी बात में एकमत हैं, तो वह है ऐसे किसी भी उद्देश्य का एक स्वर से अस्वीकार। इसके विपरीत, मार्क्सवाद पर अपने अप्रत्यक्ष, और कभी-कभी प्रत्यक्ष, आक्रमण द्वारा इन्होंने इस बात को भी स्पष्ट कर दिया है कि

समाजवादी आदर्शवाद से भी इनका कोई लगाव नहीं ।

इस पीढ़ी की मूल विचारधारा को समझने का शायद एक अन्य रास्ता अधिक उपयोगी हो सकता है : वह है किंग्स्ले एमिस के 'लक्की जिम' नामक उपन्यास पर वाल्टर एलेन लिखित समीक्षा । जैसा कि एमिस ने लिखा है, उपन्यास के क्षितिज पर 'एक नये नायक' का उदय हो रहा है : एक ऐसा शुष्क और बौद्धिक नायक जो तत्कालीन समाज द्वारा स्वीकृत सारी मान्यताओं, सभी मूल्यों पर प्रश्न-चिह्न लगा देता है । अपने हाथीदाँत के मीनार में बैठा शुद्ध अभिव्यंजना को ही सब कुछ माननेवाला सौन्दर्यवादी वह नहीं, न ही वह मार्क्सवादी क़िस्म का बौद्धिक योद्धा है; वह तो बीसवीं सदी की परिस्थितियों द्वारा उत्पन्न ऐसा मनुष्य है, जो हर व्यक्ति और हर वस्तु को सन्देह की निगाह से देखता है ।

जार्ज स्काट ने उन तत्त्वोंऔर कारणों का उल्लेख किया है, जो इस 'नये हीरो' के निर्माण में सहायक हुए हैं : सन् १९३० के आस-पास की आर्थिक उथल-पुथल, द्वितीय महायुद्ध और उसके भयावने परिणाम, ब्रिटिश समाजवाद का नैतिक दिवालियापन,और 'शीत युद्ध' की भविष्य के पथ पर दूर तक फैली दुःखद छायाएँ जो कभी भी, किसी भी समय, समूची मानवता को विनाश के गड्ढे में धकेल सकती है । परिणाम यह हुआ कि आज के व्यक्ति ने अपने-आपको एक ऐसी विकट दुविधापूर्ण सन्देह की स्थिति में पाया है, जिसने सभी 'ऐबस्ट्रैक्ट' मूल्यों का उसे विरोधी बना दिया है ।

आज का 'एंग्री यंगमैन' जिस समस्या से परेशान है उसके मूल में यह दुविधा या सन्देह ही है । उसने बहुत से महान उद्देश्यों को उपहासास्पद रूप में ख़त्म होते देखा है; परिणाम यह कि वह सभी तरह के अच्छे-बुरे उद्देश्यों को शक़ की निगाह से देखने लगा है; यहाँ तक कि जो उद्देश्य उसकी स्वयं की आस्था से सम्बन्धित हैं उन्हें भी; उसकी सन्देहशीलता स्वयं को भी नहीं छोड़ती । वह साधारणतः किसी भी दल या संस्था से अपने को संबंधित नहीं रख सकता, क्योंकि उसका मस्तिष्क किसी भी तरह के नियोजित नियंत्रण के विरुद्ध स्वभावतः विद्रोह कर उठता है । और चूंकि वह वर्त्तमान में ही जीता है, इसलिए केवल अपने अस्तित्व में ही आस्था रख सकता है ।

यही वह अकेला आदमी है, जिसे कॉलिन विल्सन ने 'आउट साइडर' का नाम दिया है । जैसा कि विल्सन ने कहा है, आउट साइडर सत्य का पोषक है । बोर्जुआ इनसाइडर—यानी स्क्वायर—का जीवन भ्रान्तियों पर आधारित है, जो सत्य को उससे दूर रखती है ।

यह ठीक है कि 'एंग्री यंगमैन' विगत की अपनी जानकारी के कारण आगत को अविश्वास की निगाह से देखता है, और इसलिए हर वस्तु के प्रति उसका रुख अस्वीकार का रहता है, लेकिन इस सबके बावजूद सत्य यह है कि वह मूल में जीवन के अच्छे पहलुओं को स्वीकार करने के लिए स्वयं बेहद आतुर है। इसके अनेक उदाहरण इनके रचनात्मक कृतित्व में मिलते हैं। सच भी है, हर वस्तु को अस्वीकार करने का अर्थ तो मृत्यु ही है। अन्य सभी युवकों की तरह ये 'नाराज युवक' भी जीवन को जीने की माँग करते है। इनके दिलों में आकांक्षा है, लेकिन अभी तक ऐसा कुछ स्पष्ट रूप से सामने नहीं आया है, जिसे इनका मस्तिष्क सिद्धि के रूप में स्वीकार कर ले।

नाराज युवक (एंग्री यंगमैन) और आहत पीढ़ी (बीट जैनरेशन) के बीच एक प्रमुख अन्तर यह है कि जहाँ 'पहले' अभी भी परवाह करते है और समझदारी से काम लेना चाहते है, वहाँ 'दूसरे' इस परवाह और इस समझदारी से काम लेने की स्थिति को पार कर चुके है। नाराज युवक 'इनसाइडर्स' की दुनिया से ताल्लुक़ात रखने के लिए उत्सुक रहते है, क्योंकि उस संसार में बाह्याडम्बर के बावजूद सामाजिक यथार्थ का सत्य तो है। आहत पीढ़ी वाले 'स्क्वायर' की दुनिया को सौगन्ध खाकर त्याग चुके है और नये यथार्थ के निर्माण के लिए प्रयत्नशील है—एक ऐसा यथार्थ जिसमें जीवन्त अनुभूतियाँ ही सब कुछ हैं।

फिर भी, आहत पीढ़ी की इस शून्यवाद-सी दिखाई देती विचारधारा के बावजूद यह स्वीकार करना पड़ता है कि पिछली दो शताब्दियों के अमरीकन साहित्य के विकाश में इसकी देन का विशेष महत्त्व रहा है। अपने पूर्व के लेखकों द्वारा पिटी-पिटायी विषयवस्तु पर लिखने से अस्वीकार कर इस पीढ़ी ने साहित्य को नयी विषय-वस्तु दी : वह विषय था स्वयं मनुष्य—भ्रान्तियों के जाल से मुक्त, अपने अस्तित्व की अंधेरी मध्यरात्रि में अकेला खड़ा मनुष्य। इन्होंने अमरीकन साहित्य को नयी शक्ति दी है, नया जीवन दिया है, जिसका इसके पूर्व अभाव था—हालाँकि यह सच है कि कभी-कभी ये अति के गहरे सागर में भी डुबकियाँ लगाने लगते हैं। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यह कि, आज के इस युग में, जब अवसरवादिता या जी-हुजूरी धर्म-वाक्य माना जाने लगा है, यही वे लेखक हैं, जिन्होंने पूरी निर्भीकता, बल्कि उदण्डता, के साथ उस नंगे बादशाह की झूठी शानवाली पोशाक का सही-सही वर्णन करने का साहस किया है।

इसी प्रकार 'नाराज युवक' भी वर्त्तमान की निरन्तर आलोचना के द्वारा,

अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक आलोचक बन जाते हैं, और अपने कृतित्व में ऐसी खरी निष्कपटता और व्यंग्य का तीखापन ला सके है, जो किसी भी प्रकार की सैद्धान्तिक विकृति या उपयोगितावाद की बोरियत से दूषित नहीं।

यद्यपि इस 'आहत पीढ़ी' और 'नाराज युवक' का अभी तक का साहित्यिक कृतित्व बहुत विशाल या महान् नहीं है, लेकिन जो कुछ अब तक सामने आ चुका है उसे निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण अवश्य कहा जा सकता है। जिन सीमाओं में इन्होंने अपने जीवन और कृतित्व को फिलहाल सीमित कर रखा है, उन्हें तोड़ कर ये बाहर आ सकेंगे या नहीं, यह बहुत-कुछ इनके आस-पास के संसार द्वारा उत्पन्न अनुकूल माहौल पर निर्भर करता है। इनकी उपलब्धि यही है कि आत्मिक शून्यता के इस युग में इन्होंने इन्सान का ध्यान पुनः उस दिशा की ओर मोड़ दिया है, जो आज के इस थके-हारे विश्व का एकमात्र आशास्थल है : वह है इन्सान का धड़कता हुआ दिल।

नयी कविता के पक्ष में एक वक्तव्य

माइकेल राबर्ट्स

●

माइकेल राबर्ट्स द्वारा सम्पादित 'द फेबर बुक आफ माडर्न वर्स' के सम्बन्ध में 'स्पेक्टेटर' ने अपनी राय जाहिर करते हुए लिखा था, "आधुनिक काव्य-संकलनों में सर्वश्रेष्ठ··· आधुनिक कविता से परिचय प्राप्त करने के लिए एक अनिवार्य संकलन"। इस संकलन की महत्ता के सम्बन्ध में 'गार्जियन' का मत भी द्रष्टव्य है: "जिन्हें आज हम आधुनिक—या आधुनिकतावादी कहना अधिक समीचीन होगा--कवियों के नाम से जानते हैं उनकी चुनी हुई श्रेष्ठतम कविताओं का सर्वाधिक प्रतिनिधि संकलन।"

इस आधुनिक काव्य-संकलन के प्रारम्भ में सम्पादक ने ३१ पृष्ठों की एक भूमिका भी दी है, जिसमें आधुनिक कविता के सभी महत्वपूर्ण पहलुओं पर इतनी गहराई और सूक्ष्मता से विचार किया है कि १९३६ में लिखी इसकी बातें आज भी आधुनिक कविता पर उतनी ही सटीक बैठती है। यहाँ इसी भूमिका का संक्षिप्त-रूपान्तर प्रस्तुत किया जा रहा है।

यह कहा जाय तो गलत नहीं होगा कि आज कविता को सामान्यतः उपेक्षा और दुश्मनी की निगाह से देखा जाता है। गद्य के साथ यह स्थिति नहीं है। गणित या विज्ञान की किसी अन्य शाखा के साथ भी नहीं।

इस उपेक्षा और दुश्मनी का कारण समझना कोई मुश्किल कार्य नहीं है। उपेक्षा इसलिए कि आज की कविता बहुत आत्मपरक अनुभूति पर आधारित होती है, और उसमें शब्दों का अपेक्षाकृत व्यक्तिगत संदर्भ में उपयोग किया जाता है, जिस कारण आज की कविता बहुत व्यक्तिगत और दुरूह प्रतीत होती है। दुश्मनी इसलिए कि आज की कविता को एक बहुत बड़ा पाठक-वर्ग कविता ही नहीं मानता।

प्रश्न उठता है कि कविता आखिरकार है क्या ? मैं ऐसा मानता हूँ कि भाषा की संभावनाओं की खोज ही कविता है। कविता के महत्त्व की माप उसके तकनीक सम्बन्धी गुणों से ही की जा सकती है—उसके कथ्य से नहीं, और न इस बात से ही कि वह कितने पाठकों के लिए बोधगम्य है। क्योंकि अगर कोई कवि बहुत-से पाठकों के लिए बोधगम्य नहीं है, लेकिन कुछ के लिए है—जैसे कि हॉपकिन्स—तो इसका कारण यह हो सकता है कि वह ऐसी बातों के विषय में लिख रहा है, जो सामान्यतः पाठकों द्वारा अनुभूत नहीं होतीं, और अपनी कविता में बिम्ब तथा लय की ऐसी सूक्ष्मताओं का उपयोग करता है जो साधारण बोलचाल की भाषा में प्रयुक्त नहीं होतीं; और इसलिए उसकी कविता बहुतों की समझ में नहीं आती। इसके अतिरिक्त किसी कविता के दुरूह होने का कारण यह भी हो सकता है कि उसमें विचारों की कुछ ऐसी ऊँचाइयाँ और भावों की ऐसी गहराइयाँ है, जहाँ तक पाठक इसके पहले कभी नहीं पहुंचा है। और परिणामतः उसका दिमाग़ झुँझला उठता है।

नयी कविता के प्रति आज के अधिकांश सामान्य पाठक-वर्ग की उपेक्षा और दुश्मनी का यही कारण है, लेकिन अगर कवि अच्छा हो तो इस स्थिति में सुधार होना संभव हो जाता है। जो समस्या आज कवि को परेशान करती है, वह अन्य लोगों को भी करेगी ही; जिन नये क्षितिजों को उसने देखा है, वे अन्य लोगों के लिए भी गोचर होंगे ही—और शायद ऐसा उस कवि के काव्य के पढ़ने से ही होगा; और तब पाठक-वर्ग की यह उपेक्षा और दुश्मनी भी स्वतः दूर हो जायेगी।

●

पिछले कुछ वर्षों से आधुनिक कविता में विवाद का विषय उसका रूप (फॉर्म), या कहें कि उसकी तथाकथित रूपहीनता (फॉर्मलेसनेस) रही है। अपने संकीर्ण अर्थ में, रूप का तात्पर्य छन्द और पदों के विशिष्ट पैटर्न से लगाया जाता है; विस्तृत अर्थ में, यह कविता में प्रयुक्त बिम्बों और लय सम्बन्धी अन्य समस्त विशिष्टताओं के लिए काम में आता है। अपने संकीर्ण और प्राचीन अर्थ में 'रूप' का उपयोग आज कोई मायने नहीं रखता; कारण किसी भी कविता का ठीक मूल्यांकन उसके 'रूप' और 'वस्तु' के पारस्परिक सम्बन्ध से ही किया जा सकता है।

अस्तु, अगर हम नयी कविता के तकनीक सम्बन्धी नवीन प्रयोगों पर ठीक से विचार करना चाहें, तो आवश्यक है कि हम साथ-साथ उसकी 'वस्तु' पर भी विचार करें।

यह सच है कि हर युग अपने समय को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और संकटपूर्ण समझता है। हमें भी हमारे आज के युग की समस्याएँ और कठिनाइयाँ अपेक्षाकृत अधिक आवश्यक और संकटपूर्ण प्रतीत होती हैं। यही कारण है कि आज हमें कविता के मूल्यांकन और उसकी स्थिति के स्पष्टीकरण की अधिक आवश्यकता महसूस हो रही है। विज्ञान की प्रगति और औद्योगिक परिवर्तनों ने उस प्राचीन संस्कृति को नष्ट कर दिया है जो कृषि-प्रधान थी। शिक्षा का आधार ज्यों-ज्यों अधिकाधिक वैज्ञानिक होता गया, त्यों-त्यों पुराने धार्मिक और नैतिक विश्वासों का भी ह्रास होता गया। धर्म और प्राचीन 'क्लासिक्स' के अध्ययन से हमें पौराणिक कथाओं का जो भाण्डार उपलब्ध होता था, वह समाज के उद्देश्यों और उसमें व्यक्ति के कर्त्तव्यों का दिशा-निर्देश करता था; वह स्रोत अब नष्ट हो गया है, और इससे उत्पन्न अव्यवस्था ने गंभीर और ज़िम्मेदार कवि को चिन्तित कर दिया है—चाहे वह कवि विश्व के किसी भी हिस्से में रहता हो।

ऐसी स्थिति में कवि के पास महज़ सतह पर ही उतराकर रह जाने के और कोई चारा नहीं था : जिस दुनिया में नैतिक, बौद्धिक और सौन्दर्य-शास्त्र के सभी मूल्य अनिश्चय की स्थिति में हों, वहाँ केवल ऐन्द्रिय संवेदन ही निश्चित होते हैं, और उन्हीं को ठीक-ठीक अभिव्यक्ति दी जा सकती है।

●

इसी सबको दृष्टि में रखकर सन् १९१३ में, तत्कालीन काव्य की अस्पष्टता और वर्णनात्मक सरलता से विचलित होकर, कुछ कवियों ने निश्चय किया कि :

१. साधारण बोलचाल की भाषा का उपयोग करेंगे, लेकिन साथ ही सदा 'उपयुक्त' शब्द ही प्रयोग में लायेंगे; महज सजावट के लिए किसी शब्द का उपयोग नहीं करेंगे।

२. नये मूड्स की अभिव्यक्ति के लिए नयी लय का निर्माण करेंगे। हम यह नहीं कहते कि कविता केवल 'फ्री वर्स' में ही लिखी जा सकती है...लेकिन हमारा यह विश्वास ज़रूर है कि परम्परागत काव्य-रूपों की अपेक्षा 'फ्री वर्स' में कवि का व्यक्तित्व अधिक अच्छी तरह व्यक्त हो सकता है।

३. विषय के चुनाव में कवि को पूर्ण स्वतंत्रता रहेगी।
४. बिम्ब का निर्माण करेंगे। हमारा काम चित्रकारी करना नहीं है, लेकिन हम यह मानते हैं कि कविता को अस्पष्ट सामान्यीकरण की अपेक्षा चीज़ों को ठीक और सही रूप में प्रस्तुत करना चाहिए।
५. ऐसी कविता का निर्माण जो स्पष्ट हो, धुँधली और अस्पष्ट नहीं।
६. अन्त में, हममें से अधिकांश की यह मान्यता है कि एकाग्रता ही कविता की जान है।

उक्त विचारधारा के बिम्बवादी कवियों का एक काव्य-संकलन एज़रा पाउण्ड द्वारा सम्पादित होकर इसी समय प्रकाशित हुआ। इसके कई कवि बहुत प्रसिद्ध भी हुए; लेकिन इस 'विशुद्ध' बिम्बवादी कविता का क्षेत्र बहुत सीमित था, और यह अधिक समय तक मंच पर टिक नहीं सकी।

सन् १९२० और १९२६ के दरमियान, बहुत-से कवि ऐसी लम्बी कविताएँ लिखने में लगे हुए थे, जो तत्कालीन सामाजिक संकट के प्रति उनकी प्रतिक्रिया और आलोचना को अभिव्यक्ति देती थी। इनमें ईलियट की 'द वेस्ट लैण्ड' विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

हमने कुछ पहले संकेत किया कि नयी कविता के लोकप्रिय नहीं हो पाने का कारण यह है कि इसके समझने में कठिनाइयाँ आड़े आती है। उदाहरणार्थ, सबसे पहले बौद्धिक कठिनाई को ही लें, जो कवि द्वारा कम जानकार तथ्यों और मुश्किल से समझ में आनेवाले विचारों के उपयोग से उत्पन्न होती है। यह कठिनाई आसानी से दूर की जा सकती है, जैसे ईलियट और एम्पसन के काव्य की दुरूहता इसी किस्म की है, जो थोड़ी-सी व्याख्यात्मक टिप्पणियों द्वारा दूर की जा सकती है।

दूसरी कठिनाई उपमा और रूपक के असामान्य प्रयोग से उत्पन्न होती है। इस कठिनाई को उस स्थिति में आसानी से दूर नहीं किया जा सकता, जब कवि उपमा या रूपक को बहुत संक्षिप्त कर देता है, जो आज की कविता की एक प्रमुख कठिनाई है। इस संक्षिप्तिकरण के कारण उपमा या रूपक को समझने के लिए पाठक को कुछ प्रारम्भिक प्रयास करना पड़ता है, लेकिन अगर एक बार पाठक ने कुछ प्रयास करके उसे समझ लिया, तो फिर आगे का कार्य उसके लिए सहज हो जाता है। यह भी एक तरह का 'शौर्टहैण्ड' है जिसे धैर्य से सीखना आवश्यक है, लेकिन अगर पाठक ने इसे एक बार सीख लिया तो फिर उसकी सारी कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं।

तीसरी कठिनाई जो शब्दों के जान-बूझकर किये गये 'फैंटेस्टिक' उपयोग से उत्पन्न होती है, वस्तुतः कठिनाई है नहीं। शब्दों से खेलने का कवि का अधिकार है और पाठक को चाहिए कि वह उस खेल में रस ले। हर कविता में शाब्दिक खिलवाड़ का तत्त्व वर्त्तमान रहता है। आज की कविता में मि० कमिंग्स और मिस सिटवेल में यह तत्त्व अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में पाया जाता है, लेकिन इसी बात को लेकर मि० कमिंग्स पर जिस तरह के आक्रमण किये गये है, वे स्वयं उपहासास्पद प्रतीत होते हैं।

सच तो यह है कि शाब्दिक खेल भी एक तरह की फैंटेसी का ही रूप है, और जब हम इस तरह की कविता के प्रति बिना पूर्वाग्रह के स्वयं को सौंप देते हैं, तो अक्सर यह हमारे मस्तिष्क पर इतना गहरा प्रभाव डालती है कि इसे 'खेल' कहा भी नहीं जा सकता।

●

कविता सदा एक ढर्रे पर नहीं चलती; यह अपने प्रभाव का स्थल समय-समय पर बदलती रहती है। जिस तरह पिछले कुछ वर्षों में वर्णनात्मक काव्य के लिखने का चलन बहुत-कुछ बन्द हो गया है, उसी तरह निकट भविष्य में इस बात की संभावना है कि कविता जीवन की सचेतन व्याख्या पर कम ध्यान देगी और अवचेतन मस्तिष्क को अभिव्यक्ति देने की ओर अधिक ज़ोर देने लगेगी।

अस्तु, यह बहुत संभव है कि एक कविता यथार्थवादी होने के साथ-साथ, स्वप्न या दुःस्वप्न की शक्ति और तेज़ी भी अपने भीतर समाहित किये हो। अच्छे काव्य में इस तरह का गुण सदा रहता ही है, लेकिन यह दुःस्वप्न कभी-कभी दृश्य की अपेक्षा शाब्दिक भी हो सकता है।

इसके अतिरिक्त, कुछ कविताएँ ऐसी भी होती हैं, जिनमें सेक्स से सम्बधित स्वप्न-फैंटेसी अभिव्यक्ति पाती है। डायलन टॉमस की 'लाइट ब्रेक्स व्हेयर नो सन शाइन्स' इसके उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती है। इस क़िस्म की कविता में जंगल, पहाड़, बहती हुई नदियाँ आदि किन्हीं और ही वस्तुओं के प्रतीक रूप में प्रयुक्त होते हैं, और पाठक (बल्कि शायद कवि भी) चूँकि अपने मस्तिष्क में चलने वाले क्रिया-कलाप से अनभिज्ञ रहता है, इसलिए जब वह क़तार-पर-क़तार चले आते बिम्बों के बीच स्वयं को पाता है, तो उससे अनुभूत होनेवाली आह्लादजनक उत्तेजना से एकबारगी तो उलझन में पड़ जाता है।

●

बहुत से आधुनिक कवि अपनी कविताओं के कथ्य स्वप्नों की अपेक्षा पौराणिक स्रोतों से भी लेते है। कुछ समय पूर्व तक ये पौराणिक कथाएँ ही हमारे भावों, विचारो और कार्यो को दिशा देती थी ; उनका कार्य प्रतीकात्मक के साथ-साथ बहुत प्रभावशाली भी होता है। लेकिन अक्सर इन पौराणिक कथाओं का जिस तरह उपयोग किया जाता है, उससे महज़ घटिया क़िस्म की कविता बन पाती है। साथ ही इन्हें इस तरह विकृत किया जाता रहा है कि इनकी प्रतीकात्मकता भी अक्सर नष्ट हो जाती है, और इस तरह हमें जो कुछ प्राप्त होता है वह महज़ एक कथा का ढाँचा भर होता है; और कथा भी ऐसी जो आधुनिक वैज्ञानिक और ऐतिहासिक खोजों के द्वारा आसानी से झूठी साबित की जा सकती है। इसके लिए एक ही रास्ता है कि इस पौराणिक कथा को इस तरह प्रस्तुत किया जाये कि आधुनिक पाठक को भी वह सामान्यतः अविश्वसनीय नही लगे, जैसा कि डे लेविस ने अपनी 'फ्लाइट' कविता में किया है। अगर कवि किसी पौराणिक कथा या दन्तकथा पर गहराई से विचार करता है, और उसमें छिपे हुए गहरे अर्थ को खोज निकालता है, तो वह पाएगा कि उसकी वर्त्तमान स्थितियों पर भी वह पौराणिक कथा प्रतीक रूप में लागू की जा सकती है। अगर कवि किसी पौराणिक कथा मे नया जीवन फूँकना चाहता है, अगर वह सचमुच अच्छी कविता लिखना चाहता है, तो उसे चाहिए कि कविता के हर शब्द का उसके अधिकतम काव्यात्मक रूप में उपयोग करे, लय और बिम्बों में नये-नये प्रयोग करे, और इस तरह कविता पाठक को कई विविध स्तरों पर छुए और प्रभावित करे।

●

जिस तरह नयी कविता को पढ़ने के लिए विशेष शिक्षा और अध्ययन की आवश्यकता होती है, उसी तरह उसको सुनाने के लिए भी विशेष अभ्यास आवश्यक है। यही कारण है कि आधुनिक कवि टाइपोग्राफ़िकल साधनों के प्रयोगों द्वारा यह बतलाने का प्रयत्न करता है कि उसकी कविता किस तरह पढ़ी जानी चाहिए। मि० कमिंग्स इसके लिए विशेष उल्लेख्य है। तुकान्त पद्य और गीतों को सुनानेवाले कवि अक्सर ही अपनी आवाज़ को इस सीमा तक ऊँचा उठा देते हैं, और उनकी आवाज़ के उतार-चढ़ाव में इतना फ़र्क होता है कि उनका सुनाना बातचीत करने की अपेक्षा गाने के अधिक नज़दीक मालूम देता है। आधुनिक कवियों की यह विशिष्टता है कि वे इस

गाकर सुनाने वाली पद्धति के विरुद्ध अपनी पूरी शक्ति से लड़ते है, क्योंकि वे मानते हैं कि इससे कविता के महत्त्व में कोई वृद्धि नहीं होती; बल्कि इस तरह संगीत पर अनावश्यक ज़ोर देने से अर्थ का महत्त्व घटता ही है। सच तो यह है कि अपनी कविताओं को गीतों की तरह—और वह भी खराब और घटिया किस्म के गीतों की तरह—पढ़कर वे कविता की पूर्णतः हत्या कर डालते है।

●

प्रथम महायुद्ध के पूर्व जब कुछ कवियों ने परम्परागत छन्दों में कविताएँ न लिखकर लय को अपनी कविताओं का आधार बनाना शुरू किया था—जैसा कि इसके पूर्व ह्विटमैन ने किया था—तो कुछ परम्परावादी कवियों और आलोचकों ने आपत्ति उठाई थी कि इससे काव्य मात्र ही नष्ट हो जाएगा। यों यह सच भी है कि लयात्मक कविता को समझने और उसका आनन्द उठाने के लिए अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म संवेदना और शिक्षा की आवश्यकता होती है; और यह भी सच है कि लय को कविता का आधार बनाने पर गद्य और काव्य का अन्तर बहुत-कुछ नष्ट हो जाता है; लेकिन नये तथ्यों के अनुकूल बनाने के लिए समीक्षा-शास्त्र के शब्दकोष में परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। तथ्यों को नकारना और नयी कविता में उपस्थित विविध लयों की ओर से अपने कानों को बन्द कर लेना तो बहुत-कुछ उसी व्यक्ति की तरह व्यवहार करना हुआ, जिसने गैलीलियो की खुर्दबीन में देखने से ही इन्कार कर दिया था। हर नयी खोज एक बार प्रारंभ में अव्यवस्था पैदा करती ही है; आलोचक का कार्य नयी खोजों को रोकना या उन्हें अस्वीकार करना नहीं होता, बल्कि प्राचीन व्यवस्था को हटाकर नयी खोजों के अनुसार नयी व्यवस्था उत्पन्न करना होता है।

●

अन्त में, नयी कविता के पक्ष में सबसे बड़ी दलील तो यही दी जा सकती है—जो कि नयी कविता ही क्यों हर समसामयिक साहित्य के बारे में दी जा सकती है—कि यह आज की कविता है, यही हमारा समसामयिक काव्य है; यह हमारी है, और हमारे लिए है; यह 'यहाँ' की, और 'आज' की, कविता है।

एक प्रयोगवादी फ्रांसीसी कथाकार का घोषणा-पत्र

एलेन-रोब्ब ग्रिल्लेत

●

तत्कालीन फ्रान्सीसी साहित्य के एक सर्वाधिक विवादास्पद कथाकार और आलोचक। एक विशिष्ट विचारधारा वाले कुछ फ्रान्सीसी लेखकों की प्रसिद्ध साहित्यिक संस्था 'ले एदीशंस दे मिनीत' से सम्बन्धित।

रोब्ब-ग्रिल्लेत के दो उपन्यासों 'ला वोयर' और 'ला जलौसी' के अँग्रेजी अनुवाद शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाले हैं।

'ला वोयर' पर इन्हें फ्रान्स का एक प्रसिद्ध साहित्यिक पुरस्कार भी मिल चुका है। साहित्य के इतिहास में प्रयोग का एक अभूतपूर्व उदाहरण लेकर प्रकट होनेवाले 'ला वोयर' में केवल आँख के ही दृश्य-संवेदनों पर अपना समस्तध्यान केन्द्रित रखने की ओर लेखक का आग्रह कुछ इस हद तक बढ़ा हुआ है कि एक परम्परावादी अँग्रेज कथाकार-आलोचक के शब्दों में, "ऐसा महसूस होता है कि इस आँख के पीछे सिर नाम की किसी चीज का अस्तित्व ही नहीं है"।

एलेन-रोब्ब-ग्रिल्लेत का प्रस्तुत लेख जान वेन द्वारा सम्पादित 'इण्टरनेशनल लिटरेरी एन्युअल' के प्रथम खण्ड में 'रिफ़्लेक्शंस आन सम आस्पेक्ट्स आफ़ ट्रेडिशनल नावेल' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था, जिसका सार-संक्षेप यहाँ दिया जा रहा है।

परम्परावादी आलोचना का अपना शब्दकोष होता है। हालाँकि इसके पक्षधर किसी रीतिबद्ध आलोचना-शास्त्र की घोषणा करने से बचते रहते हैं; बल्कि वे तो, इसके विपरीत, यह दावा करते है कि किसी भी कलाकृति की वे 'प्राकृतिक कसौटी' (जैसे सहृदयता, भावना आदि) के आधार पर 'मुक्त' होकर प्रशंसा करते हैं; लेकिन अगर हम उनकी समीक्षाओं को ज़रा ध्यान से पढ़ें तो उनमें उपस्थित उन ढेर-सारे कुञ्जी-शब्दों का तत्काल पता लग जाएगा, जो इस तरह की रीतिबद्ध पद्धति के अस्तित्व का भेद खोल देते हैं।

भेद ज़रूर खोल देते हैं, लेकिन 'पात्र', 'वातावरण', 'रूप', और 'वस्तु', 'शैली', और 'सच्चे उपन्यासकार' की 'वर्णन-शक्ति' आदि बातों को पढ़ने के हम इतने अभ्यस्त हो चुके हैं कि इस मकडी-जाल से बचने के लिए हमारे लिए प्रयत्न करना आवश्यक हो जाता है।

पात्र (Character)

'पात्र' या 'चरित्र' के सम्बन्ध में हम परम्परावादी आलोचकों से काफ़ी सुन चुके हैं, और लगता है, (अफ़सोस !) कि अभी और भी बहुत-कुछ सुनना शेष है। पिछले पचास वर्षों से यह (पात्र) एक बीमार आदमी रहा है; अत्यन्त प्रतिष्ठित निबन्धकारों द्वारा अनेक-अनेक बार इसकी मृत्यु का प्रमाण भी प्रस्तुत किया जा चुका है,--लेकिन जिस ऊँची वेदी पर इसे उन्नीसवीं शताब्दी ने स्थापित कर दिया था वहाँ से इसे अपदस्थ करने में आज तक कोई भी कामयाब नहीं हो सका है। यह अब एक मम्मी (मसाला लगाकर सुरक्षित रखा हुआ मृत शरीर) है, लेकिन ऐसा मम्मी जो आज भी उन मूल्यों में अपना विशिष्ट और प्रधान स्थान रखता है जिनको परम्परावादी आलोचना पूजती है। दरअसल, इन मूल्यों के प्रति जागरूकता ही है जिससे 'सच्चा' उपन्यासकार जाना जाता है: इन मूल्यों में प्रमुखतम यह है कि 'वह पात्रों का निर्माण करता है.....'

इस रुख़ की पुष्टि के लिए हमारे ये आलोचक-बन्धु सदा उसी पुराने तर्क का सहारा लेते हैं: 'बालज़ाक ने हमें पियरे गोरियत दिया है, दास्तायवस्की ने करमाज़ोव भाइयों का निर्माण किया है'--इसलिए आज भी उपन्यास-लेखन का एकमात्र लक्ष्य यही हो सकता है कि साहित्य के इतिहास ने व्यक्ति-चित्रों का जो संग्रहालय एकत्रित कर रखा है, उसमें कुछ आधुनिक मूर्त्तियों को और जोड़ दिया जाए।

हर व्यक्ति जानता है कि 'पात्र' शब्द से अभिप्राय क्या है। पात्र से मतलब महज़ 'वह' नहीं होता, अनाम और पारदर्शी नहीं होता। पात्र का एक अपना नाम होना चाहिए--बल्कि संभव हो तो दो नाम होने चाहिएँ: यानी नाम और उसकी जाति दोनों। उसके रिश्तेदार होने चाहिएँ और उसके खान्दान की अपनी ख़ास विशेषताएँ होनी चाहिएँ। उसका धंधा भी बताना जरूरी है। अगर वह कोई विशेष महत्त्व का व्यक्ति है, तो बेहतर। सबसे ज़रूरी बात यह कि उसका अपना विशिष्ट व्यक्तित्व होना चाहिए। उसकी व्यक्तिगत विशेषताएँ ही उसके कार्यों की जननी होनी चाहिएँ। इन विशेषताओं के आधार पर ही पाठक उसके सम्बन्ध में निर्णय लेगा--उसे प्यार करेगा अथवा घृणा।

वह ज़रूरी है कि पात्र 'अद्वितीय' हो और साथ ही वर्गीकरण के अन्तर्गत भी आ सके; उसमें इतनी विशेषता होनी चाहिए कि वह दूसरों से अलग पहचाना जा सके---उन्हीं के शब्दों में कहें तो उसे 'अविस्मरणीय' होना चाहिए---लेकिन साथ ही उसमें इतनी व्यापक मानवता भी हो कि वह बोधगम्य बना रहे।

ज़रा विविधता के लिए कभी-कभी उपन्यासकार कोई ऐसा नायक भी चुन सकता है जो उक्त नियमों में से किसी एकाध का उल्लंघन करता हो : जैसे कोई अनाथ बच्चा, कोई ऐय्याश, कोई सनकी---यानी कोई ऐसा व्यक्ति जिसका अनिश्चित चरित्र पाठक को यदा-कदा विस्मय-रस का भी पान करा सके...लेकिन इस पथ पर उपन्यासकार उसे बहुत अधिक आगे नहीं बढ़ायेगा, क्योंकि अन्ततः यह है तो अधःपतन का ही पथ !

उपन्यास के एक प्रमुख तत्त्व 'पात्र' के संबंध में उक्त विचार हमारे परम्परावादी आलोचकों द्वारा कई-कई बार दुहराये जा चुके है।

●

एक बात जो हमारे ये आलोचक-प्रभु भूल जाते हैं वह यह कि सभी महान् समसामयिक कथा-कृतियाँ ठीक इसकी विरोधी बात की पुष्टि करती हैं। कितने पाठक हैं जिन्हे सार्त्र के 'ला नौसिया' और कामू के 'एल त्रेन्जर' उपन्यासों के कथा-नायकों के नाम याद हैं ? क्या ये सामान्य इन्सानों के नमूने हैं ? क्या इन उपन्यासों को पात्र-निर्माण और पात्र-अध्ययन की पुस्तकें मानना परले सिरे की मूर्खता नहीं होगी ? और क्या 'वोयेज अॅ बाउत दे ला नूत' कृति तथाकथित 'पात्र' का वर्णन करती है ? क्या कोई पाठक यह विश्वास करेगा कि ये तीनों उपन्यास संयोग से ही प्रथम पुरुष में लिख लिये गये हैं ? बैकेट अपनी एक ही कहानी में अपने नायक के नाम और रूपाकार तक में परिवर्तन कर देता है। फॉकनर दो भिन्न पात्रों का जान-बूझकर एक ही नाम रख देता है। और जहाँ तक 'द काशल' के क० का सवाल है, वह तो अपने नाम के महज़ पूर्वाक्षर से ही जाना जाकर सन्तुष्ट है; उसके पास अपना कुछ भी नहीं है; न उसका अपना कोई परिवार है, और न व्यक्तित्व ही।

इस तरह के दृष्टान्तों की संख्या इच्छानुसार बढ़ाई जा सकती है। तथ्य यही है कि पात्रों के ये निर्माता, इस शब्द के परम्परागत अर्थानुसार, अब हमें कुछ भी देने की शक्ति नहीं रखते---सिवाय कठपुतलियों के जिनमें स्वयं उनकी भी आस्था अब नहीं रही। चरित्र-प्रधान उपन्यास विगत की वस्तु बन चुका है। यह उस युग का प्रतीक है जिसमें व्यक्ति का बोलबाला था।

यह प्रगति का सूचक चाहे न हो, लेकिन निश्चित रूप से तथ्य यही है कि आज का युग पहिचान-पत्र का, दफ्तरी संख्या का युग है। हमारे आज के युग में, दुनिया का भाग्य कुछ व्यक्तियों या कुछ परिवारों के उत्थान-पतन पर निर्भर नहीं रहा है। स्वयं हमारी यह दुनिया भी अब वह प्राचीन ढंग की वंशानुक्रम से प्राप्त होने वाली जागीर वाली दुनिया नहीं रही। निश्चय ही, ख़ान्दानी नाम उन बोर्जुआ परिवारों के समय बहुत महत्त्व रखता था जिनका कि बालजाक ने इतना जीवन्त चित्रण किया है। व्यक्तित्व भी उन दिनो अधिक महत्त्वपूर्ण था जब दूसरों पर अपना आधिपत्य जमाने में कोई व्यक्ति उसका उपयोग कर सकता था।

हमारा आधुनिक विश्व स्वयं के बारे में कम निश्चित है; हाँ, विनम्र शायद अधिक है, क्योंकि अब यह व्यक्ति के सर्वशक्तिमान होने में विश्वास नहीं करता; लेकिन साथ ही पहले से महत्त्वाकांक्षी भी अधिक है, क्योंकि यह अधिक गहराई में पैठता है। 'मानवतावादी' सिद्धान्त ने ईश्वरीय सत्ता की जगह अधिक व्यापक चेतना को स्थापित कर दिया है। अपने प्रधान आधार–नायक–को खो देने के कारण आज उपन्यास लड़खड़ाता हुआ-सा दिखाई दे रहा है। यदि यह स्वयं को सँभालने में कामयाब नहीं हो सका, तो इसका कारण यही समझा जाएगा कि इसका अस्तित्व एक ऐसे समाज से जुड़ा हुआ था जो अब मृत हो चुका है। लेकिन यदि यह कामयाब हो जाता है,तो इसके सामने एक नया जीवन खुल जायगा, जिसमे यह एक प्रमुख कला के रूप में एक बार फिर अपना स्थान प्राप्त कर लेगा।

कहानी [Story]

अधिकांश पाठकों के लिए––और आलोचकों के लिए भी––उपन्यास सर्वप्रथम एक 'कहानी' ही है। सच्चा उपन्यासकार वही है जो 'कहानी कहना' जानता है। इस कार्य के प्रति उसका उत्साह ही है जो आदि से अन्त तक उसे साधे रहता है, जैसे कि किसी पक्षी को उसकी उडान के बीच हवा साधे रहती है।

यही कारण है कि उपन्यास की आलोचना करने का अर्थ अक्सर उसकी कहानी का सार-संक्षेप दे देना ही समझा जाता रहा है। पुस्तक पर जो निर्णय दिया जाता है वह मुख्यतः इसी कथानक के संगठन–इसकी विश्वसनीयता, इसमें निहित विस्मय और अनिश्चय के क्षण जो साँस रोककर पढ़ने वाले पाठकों के सामने धीरे-धीरे उघड़ते चलते हैं—पर आधारित होता है। विवरण का बीच में रुक जाना, घटना का ग़लत ढंग से आयोजन, रुचि का कम हो जाना, कार्य-व्यापार का धीमा हो

जाना—यही हैं जो कथा-कृति की मुख्य खामियाँ मानी जाती हैं; और उत्साहपूर्ण जीवन्त वर्णन तथा कथा का सुनियोजित संगठन ही उसके प्रमुख गुण।

शैली का तो प्रश्न ही नहीं उठता। मात्र सही भाषा लिखने, सजीव और उल्लासपूर्ण ढग से वर्णन करने पर ही कथाकार को प्रशंसा प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार, शैली केवल एक साधन, एक बाह्य उपकरण मानी जाती है। पुस्तक का प्रमुख तत्त्व इसकी वस्तु में, एकान्तिक रूप से इसकी कहानी में, निहित रहता है।

लेकिन 'गंभीर' लोग—ऐसे लोग जिनके लिए साहित्य महज़ खोखले मनोरंजन की ही वस्तु नहीं होता—यह माँग करते है कि कहानी का केवल रोचक और असामान्य होना ही पर्याप्त नही है, इसे 'सच्ची' भी होना चाहिए। ठीक है कि पात्रों का भी घटनाओं की तरह निर्माण किया जाता है, लेकिन ये घटनाएँ पात्रानुकूल और स्वाभाविक होनी चाहिएँ।

फिर भी, प्रमुख बात रही कहानी कहना ही। हाँ, 'महान्' उपन्यासकार वह माना जाता है जिसमें 'सच्ची' कहानी गढ़ने की योग्यता हो। रोमांस, अपराध और साहसिक कहानियों का समूचा साहित्य इस सिद्धान्त की जान-बूझ कर अवहेलना करता है। लेकिन इससे कोई फर्क नही पड़ता : इसके बावजूद जनता में ये कहानियाँ कामयाब होती है; लेकिन यह साहित्य अन्ततः नीची श्रेणी में ही गिना जाता है, और पाठक अगर सुसस्कृत है तो इसे पढ़ते समय इस बात को महसूस भी करता रहता है : वह जानता है कि वह अपना समय नष्ट कर रहा है, कि यह सब पढते समय उसे मानसिक खुराक नहीं मिलती है।

यही पाठक जब कुछ और गहराई में पैठता है, तो 'सच्चे' साहित्य के लेबल के अन्तर्गत बढ़िया प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित पुस्तकों को भी सन्देह की दृष्टि से देखने लगता है; वह स्वयं से प्रश्न करने लगता है कि ये जो ढेर-सारे उपन्यास उसने पढ़े है, उनके लेखक उसे महज़ 'कहानियाँ' ही तो नहीं कह रहे थे ?

और, यह 'कहानी कहने' वाली बात, जो अब तक उसके लिए अजस्र आनन्द का स्रोत रही थी, अब सहसा ही उसके सामने अपनी सम्पूर्ण भयानकता के साथ प्रकट हो जाती है। कथा का यह तनाव, जिससे खिचा हुआ वह पृष्ठ-पर-पृष्ठ पढ़ता चला जाता था, कथा-सूत्रों का साफ़-सुथरा संगठन, उसके प्रिय लेखक की ये व्यावसायिक उपलब्धियाँ—इन सबके भीतर छिपी हुई भयानक छलना का उसे सहसा ही पता लग जाता है। वह आतंकित हो उठता है कि उसे जाल में फँसाया गया है। 'मानवीय'सत्य' के नाम पर उसे जो कुछ दिया जाता रहा है, वह महज धोखा था, महज 'साहित्य' था.....

यही कारण है कि आज शिक्षित और सुसंस्कृत पाठकों को हम अधिकाधिक संख्या में उपन्यास से विमुख होता हुआ पाते हैं। गढ़ी हुई कहानी की अपेक्षासत्य जीवन-कथा—व्यक्तिगत दस्तावेज—कहीं अधिक विश्वसनीय मानी जाती है। अधिक विकसित रुचि वाले पाठक तो आज यहाँ तक कहते नज़र आते हैं :"मैं अब उपन्यास नहीं पढ़ता, मैं उस अवस्था को पार कर चुका हूँ। ये उपन्यास-अपन्यास औरतों के लिए तो ठीक है जिन्हें करने के लिए और कोई कार्य नहीं होता, लेकिन मैं वास्तविकता को अधिक महत्त्व देता हूँ....." आदि-आदि।

बेचारा उपन्यासकार मजबूर होकर उपदेशपरक साहित्य की ओर मुड़ता है। वह आशा करता है कि कम-से-कम उस क्षेत्र में तो वह पाठकों का समर्थन पाने में कामयाब हो ही जाएगा। लेकिन उसके दुर्भाग्य से, आज इसका भी किसी पर कोई असर नहीं होता। जिस प्रकार कल्पना-प्रधान उपन्यास आज शंका की दृष्टि से देखा जाता है, उसी प्रकार कथा के क्षेत्र में आने पर मनोविज्ञान, सामाजिक नैतिकता, धर्म आदि की भी स्थिति हो जाती है। अगर किसी व्यक्ति की इन दिशाओं में रुचि है तो वह इन विषयों से सम्बन्धित निबन्ध पसन्द करेगा, जो अधिक विश्वसनीय होते हैं। सच तो यह है कि उपदेश या संदेश देने वाला उपन्यास आज साहित्य का सबसे घृणित रूप माना जाता है।

●

तो क्या आज उपन्यासकार के लिए यह किसी भी तरह संभव नहीं कि वह 'निरर्थकता' या 'उपदेशात्मकता' के इन दो दोषों से स्वयं का दामन बचा सके ? मनोरंजन के लिए कहानी कहना व्यर्थ है, विश्वास दिलाने के लिए कहानी कहना छल है, और उपदेश देने के लिए कहानी कहना तो और भी बुरा है। क्या इस समस्या का कोई समाधान नहीं ?

हाँ, एक है; हालाँकि उसे मानने के लिए आज बहुत कम लोग इच्छुक हैं। अगर रोमानी उपन्यासों का युग सचमुच बीत चुका है, और इसके साथ-साथ उपन्यास को जीवित भी रहना है, तो स्पष्टतः यह तभी संभव होगा जब उपन्यास को रोमानी तत्त्वों से पूर्णतः बरी किया जाएगा। इसके लिए हमें तत्काल जो कार्य करना है वह है इस पुरानी परिभाषा का परित्याग : 'उपन्यास लिखने का अर्थ है कहानी कहना।' यह निश्चित नहीं है कि इस रूप में कहानी एकदम अदृश्य ही हो जाएगी, लेकिन पात्र की तरह, यह क्रमशः अपना महत्त्व खो देगी और उपन्यास के निर्माण में कम-से-कम महत्त्व का कार्य करेगी।

इस प्रवृत्ति के लक्षण आज से कई दशकों पूर्व दृष्टिगोचर होने लगे थे, और

तब से यह उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी है। कथानक की अनिवार्यता बालज़ाक की अपेक्षा प्रूस्त को कम, प्रूस्त की अपेक्षा फॉकनर को और कम, तथा फॉकनर की अपेक्षा बैकेट को और भी अधिक कम महसूस होती है....आज के लेखक की और भी व्यस्तताएँ हैं। प्रूस्त फिर भी कभी-कभी कहानी कह देता था, लेकिन इसे आवरण में लपेटकर उपस्थित करने में उसे भय नहीं लगता था। जब फॉकनर कहानी पर अपना पंजा डालता है तो उसे नष्ट करने के लिए, कहने के लिए कभी नहीं। जहाँ तक बैकेट का सवाल है, वह तो विवरण का कभी उपयोग ही नहीं करता--सिवाय व्यंग्य करने के। और इसी तरह यह क्रम चलता रहता है।

'तुम उपन्यास को मार डालोगे', मुझसे आलोचक-गण कहते है। लेकिन वे ग़लत कहते हैं। सच यह है कि स्वयं उपन्यास ने भी कहानी में अपनी पुरानी आस्था आज खो दी है, अतः कहानी मे उपन्यास को साधे रहने की शक्ति रही ही नहीं है। अगर उपन्यास को जीवित रहना है, तो इसे अपने सहारे के लिए निश्चित रूप से कुछ अन्य उपायों की खोज करनी होगी।

रूप [Form] और वस्तु [Content]

चूंकि प्रचलित मान्यता के अनुसार, उपन्यास का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व कहानी है, चूंकि 'अच्छा' उपन्यासकार वह माना जाता है जो मनोरंजक कहानियाँ गढ़ सकता है अथवा जो अपने प्रतिद्वन्द्वियों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह कहानी कह सकता है, और चूंकि, अन्ततः, 'महान्' शब्द का ठप्पा उसी उपन्यास पर लगाया जा सकता है जिसका महत्त्व कहानी का अतिक्रमण करके 'गहन मानवीय सत्य' को उद्घाटित करना है ---जैसे कि कोई नैतिक या आध्यात्मिक यथार्थ--- तो यह स्वाभाविक ही है कि हमारे आलोचक - बन्धु रूपवाद (Formalism) को घृणिततम अपराध मानें।

रूपवाद से वस्तुतः उनका ठीक-ठीक अभिप्राय क्या है ? उत्तर स्पष्ट है : उनका अभिप्राय है उपन्यासकार का कलापक्ष के प्रति अत्यधिक रुझान--- या अधिक साफ शब्दों में कहें तो उपन्यास-लेखक का तकनीक की ओर अत्यधिक रुझान---वस्तुपक्ष की अवहेलना करते हुए, जिसका मतलब हुआ, कहानी और उसके अर्थ की अवहेलना करते हुए। निष्कर्ष यह कि प्राचीन शास्त्रीय विरोध आज भी प्रचलित है, रूप और वस्तु का यह सदियों पुराना वर्गीकरण अभी तक भी दफनाया नहीं गया है।

बल्कि तथ्य तो यह है कि यह परम्परावादी कट्टर सिद्धान्त आज और भी

अधिक उत्कटता से लागू किया जाता है। रूपवाद का यह दोष आज और भी जोश-ख़रोश से उस साहित्य पर लगाया जाता है जिसके लेखक 'अनकॉमिटेड' हैं।

यह दोष दो खेमों के पक्षधरों द्वारा विशेष रूप से लगाया जाता है। पहले खेमे के पक्षधर साहित्य से यह माँग करते है कि इसे उस अस्पष्ट मानवतावाद को अभिव्यक्ति देनी चाहिए जो आज ह्रासशील है और जिसके अन्तिम रक्षक आज वे स्वयं हैं। दूसरे खेमे के पक्षधर साहित्य को सामाजिक क्रान्ति के लिए एक हथियार के रूप में प्रयुक्त करना चाहते है।

दोनों ही खेमे उपन्यास को एक ऐसा अर्थ और उद्देश्य देना चाहते है जो इसकी प्रकृति के विरुद्ध है; वे इसे एक ऐसे मूल्य की--किसी आध्यात्मिक या पार्थिव लक्ष्य की-- किसी भावी सुख या शाश्वत सत्य की--कुंजी बनाना चाहते हैं जो इसकी सीमा से परे है। दरअसल 'कला' अगर 'कुछ' है, तो वही 'सब कुछ' है ; जिसका अर्थ हुआ कि वह आत्म-निर्भर है, स्वतःसम्पूर्ण है,--इसके परे और कुछ भी नहीं।

●

हममें से प्रत्येक उस रूसी व्यंगात्मक कार्टून को जानता है जिसमें एक अफ्रीकी दरियाई घोड़ा दूर खड़े एक ज़ेब्रा की ओर इशारा करता हुआ अपने साथी दरियाई घोड़े से आश्चर्य से कहता है : 'वह देखो ! वह है रूपवाद !'' किसी भी कलाकृति का अस्तित्व, और उसका महत्त्व किसी शासन-प्रणाली की दया पर निर्भर नहीं होता। इस विश्व की तरह कलाकृति भी एक जीवित रूप है, यह 'है', यही पर्याप्त है; इसके अस्तित्व की उपयोगिता की पुष्टि आवश्यक नहीं होती। ज़ेब्रा यथार्थ है--इस तथ्य को अस्वीकारना अनुचित है--फिर चाहे उसकी धारियाँ अर्थहीन ही क्यों न हों ! एक सिम्फनी, एक पेंटिंग, एक उपन्यास के साथ भी यही बात लागू होती है : इनका यथार्थ इनके 'रूप' (Form) में ही निहित होता है।

इस तरह, उपन्यास की 'वस्तु' की बात करना इसे 'कला' के क्षेत्र से निष्कासित करने के बराबर ही है। क्योंकि 'कला' के भीतर कुछ भी निहित नहीं रहता, 'कला' कुछ भी व्यक्त नहीं करती। कला स्वयं को किसी अन्य उद्देश्य के अधीन नहीं समझती। अपने सन्तुलन का और अपने अर्थ का यह स्वयं निर्माण करती है। यह स्वयं अपने पैरों पर खड़ी होती है--ज़ेब्रा की तरह; अथवा गिर पड़ती है।

अगर अपनी बात को हम और आगे बढ़ाएँ, तो हम अपना रास्ता परम्परावादी

आलोचना के एक अन्य ढोंके द्वारा रुका हुआ पाते हैं : 'अमुक लेखक के पास कुछ कहने के लिए है, और वह इसे प्रभावशाली ढंग से कहता है।' इसके विपरीत क्या यह नहीं कहा जा सकता कि सच्चे लेखक के पास कहने के लिए कुछ नहीं हुआ करता ? उसका कार्य है दुनिया का निर्माण करना, लेकिन अपनी इस दुनिया का निर्माण वह 'कुछ नहीं' में से करता है, धूल में से करता है....

यहीं हमें दूसरे दोषारोपण--निरर्थकता--का भी उत्तर देना है। दरअसल सृजन की आवश्यकता का 'उपयोगिता' से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह नितान्त आन्तरिक आवश्यकता है; लेकिन जब इस पर कोई बाह्य कसौटी थोपी जाती है तो स्पष्टतः यह निरर्थकता का बाना ओढ़े हुए लगती है।

●

रूपवाद शब्द, अगर इसका कोई अर्थ है, उन्हीं उपन्यासकारों द्वारा उपयोग में लाया जा सकता है, जो अपनी 'कथा-वस्तु' के बारे में बहुत अधिक चिन्तित रहते हैं, और जो इसे अधिक बोधगम्य बनाने के लिए जान-बूझकर अपनी कृति में उस हर साहित्यिक साधन का बहिष्कार कर देना चाहते है जो उनके पाठक को चोट पहुंचा सकता है : ये उपन्यासकार विशेषकर ऐसा रूप [Form] उपयोग में लाते है जो पुराना है, घिस चुका है, और अपनी सम्पूर्ण शक्ति, अपनी समस्त जीवन्तता खो चुका है। दरअसल, यही उपन्यासकार रूपवादी [Formalist] होते हैं, क्योंकि इन्होंने एक बना-बनाया, निर्जीव रूप [Form] अख्तियार कर लिया है जो अब महज़ एक फ़ार्मूला बन चुका है; वे रूपवादी हैं क्योंकि वे इस सड़ती हुई दुर्गन्धित मृत-देह से चिपटे रहते है।

जनता अक्सर ही रूप [Form] और जड़ता [Frigidity] को एक मानने की ग़लती करती है। यह ग़लती तत्काल दूर हो जायगी अगर हम एक बार यह स्पष्ट पता लगा लें कि अमुक रूप [Form] मौलिक है, पिटा-पिटाया नहीं है।

अन्त में, यह तथ्य सबको स्वीकार करना पड़ेगा--क्योंकि हर बात इसी निष्कर्ष की ओर संकेत करती है—कि 'कला' [Art] मात्र 'रूप' [Form] होती है, लेकिन (और हमें इस अभिव्यक्ति के कम कल्याणकर अभिप्रायों को छोड़ देना चाहिए) संभवतः यह रूप 'विश्व का ही रूप' (Form of the World) है।

एक परम्परावादी अँग्रेज़ कथाकार का वक्तव्य

विलियम कूपर

●

अँग्रेज उपन्यासकार। 'शीन्स फ्राम प्रोविंशियल लाइफ़' और हाल ही में प्रकाशित 'यंग पीपुल' शीर्षक उपन्यासों के लेखक।

'इण्टरनेशनल लिटरेरी एन्युअल' के प्रथम खण्ड में फ्रान्सीसी कथाकार एलेन-रोब्ब ग्रिल्लेत का एक लेख प्रकाशित हुआ था जिसमें लेखक ने परम्परावादी उपन्यास-लेखन के कुछ प्रमुख तत्वों की आलोचना करते हुए, प्रयोगवादी उपन्यास-लेखन की महत्ता प्रतिपादित की थी। इसके उत्तर में 'इण्टरनेशनल लिटरेरी एन्युअल' के दूसरे खण्ड में अँग्रेज़ कथाकार विलियम कूपर का 'रिफ्लेक्शंस आन सम आस्पेक्ट्स आफ द एक्सपेरिमेण्टल नावेल' शीर्षक से एक लेख प्रकाशित हुआ था। जिसका सार-संक्षेप यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

क्या ये फ्रांसीसी भी अजीब नहीं होते! तभी तो जिस प्रयोगवादी-लेखन को हमलोग इंगलैण्ड में १९३० में ही त्याग चुके है, ये लोग अब १९६० में उसी के पीछे हाथ धोकर पड़े है, और साथ ही घोषणाएँ करते-फिरते है जैसे कोई बहुत बड़ा तीर मार रहे है!

ऐसे ही एक फ्रांसीसी है श्री एलेन रोब्ब ग्रिल्लेत। इन महाशयजी ने अभी-अभी 'द वोयर' नाम से एक उपन्यास प्रकाशित करवाया है, जिसमें अपना समस्त ध्यान केवल दृश्य-संवेदनों पर ही, मात्र आँख द्वारा देखी वस्तुओं पर ही, केन्द्रित रखा है—इस हद तक कि आपको महसूस होगा कि इस आँख के पीछे दिमाग़ नाम की किसी चीज़ का अस्तित्व ही नहीं है। अगर आपने यह उपन्यास नहीं पढ़ा है तो आपको यह भी बता दूँ कि इसके जैसा नीरस, शुष्क और उबाऊ कोई दूसरा उपन्यास नहीं हो सकता। मैं यहाँ एक उद्धरण देता हूँ, उससे आप स्वयं ही इस बात का निर्णय करें। यह उद्धरण उक्त उपन्यास के अन्तिम से पहले

पृष्ठ में मौजूद है : हालाँकि सचाई यह है कि यह पुस्तक के किसी भी पृष्ठ पर चिपकाया जा सकता है, इससे कोई फर्क नहीं पड़ेगा, क्योंकि उपन्यास में एकसूत्रता [कहानी तो दूर की बात है] नाम की किसी चीज़ में इन महाशयजी का विश्वास नहीं है। तो उद्धरण का जायज़ा लें :

'It was a heavy iron buoy, the portion above water constituting a cone surmounted by a complex assemblage of metal stems and plates. The structure extended three or four yards into the air. The conical support itself represented nearly half of its height. The rest was divided into three noticeably similar parts, prolonging the point of the cone, a narrow, open-work, square turret—four iron uprights connected by cross-pieces; avove this came a kind of cylindrical cage, its vertical bars sheltering a signal light fastened in the middle; and last, topping the structure and separated from the cylinder by a stem which continued its main axis, three equilateral triangles, superimposed, so that the tip of one supported in its Centre the horizontal base of the next. The whole of this structure was painted a shiny black'.

देखा आपने ? क्या यह कल्पनातीत रूप से शुष्क और उबाऊ नहीं है ? और साथ ही क्या लेखक की अज्ञानता का सूचक भी नहीं है ? इस लम्बे-चौड़े विवरण को पढ़ने के बाद भी क्या आपकी कुछ समझ में आया कि दरअसल यह है क्या चीज़ जिसका वर्णन करने में लेखक पसीने-पसीने हो रहा है ? आप इस उद्धरण को एक बार फिर पढ़ जाइये; क्या फिर भी आपके कुछ पल्ले पड़ा ? (स्पष्ट है कि मि० रोब्ब ग्रिल्लेत की देखने की शक्ति कोई बहुत तेज़ हो ऐसी बात नहीं है, और न ही रेखागणित और इंजीनियरिंग का उनका ज्ञान ही ठोस है;—एक ऐसे व्यक्ति के लिए यह स्थिति सचमुच बहुत दयनीय है जिसका पेशा दृश्य-लेखक के बाद इंजीनियर का ही होता जान पड़ता है ! सचमुच स्थिति दयनीय है !)और हण्डे [Buoy]का यह विवरण मि० रोब्ब ग्रिल्लेत की साहित्यिक मान्यता का प्रमाण है। इस उपन्यास से इस तरह के और भी कई विवरण उद्धृत किये जा सकते हैं : दरअसल, एक तरह से, इस तरह के विवरण ही 'द वोयर' उपन्यास का मुख्य तत्त्व है जैसा कि इसके नाम से भी पता चलता है।

दृश्य—सहज, सरल और विशुद्ध दृश्य ! दृश्य जिसमें और किसी भी चीज़ की मिलावट नहीं। केवल आँख ! आँख जिसके पीछे दिमाग़ जैसी कोई चीज नहीं। परम्परावादी उपन्यास के कुछ तत्त्वों पर विचार करने के बाद मि० रोब्ब ग्रिल्लेत ने स्वयं अपने लेखन का यह रास्ता चुना है !!

पात्र (The Character)

यह कहने की मैं ज़रूरत नहीं समझता कि प्रयोगवादी उपन्यास की मृत-कला के अभ्यासियों की इस तत्कालीन पीढ़ी ने पात्र को उपन्यास से बाहर निकाल दिया है, एकदम बाहर। दरअसल, यह भीतर रह भी नहीं सकता था, क्योंकि प्रयोगवादी उपन्यास-लेखन का मतलब ही है—'मनुष्य-समाज-में'—के लेखन से पलायन, और ऐसा केवल वे प्रयोगवादी उपन्यासकार ही कर सकते हैं जो स्वयं का समाज के साथ ताल-मेल नहीं बैठा पाते। 'केवल मनुष्य' की संवेदनाओं के बारे में लिखनेवाले ये वही लोग है, जो आज के औद्योगिक समाज को सहन नहीं कर सकते। "आज का युग पहिचान-पत्र का, दफ्तरी संख्या का है"—मि० रोब्ब ग्रिल्लेत महोदय फरमाते है। और इस स्थिति के लिए ज़िम्मेदार समझते हैं इन पहिचान-पत्रों के तथाकथित व्यक्तियों के व्यक्तित्व के नाश को !

महाशयजी लिखते है, "दुनिया का भाग्य आज कुछ व्यक्तियों या कुछ परिवारों के उत्थान-पतन के साथ सम्बन्धित नहीं रहा है।" मानो ऐसा पहले सदा ही रहा हो ! इनके विपरीत, यह वक्तव्य एक ऐसे प्रजातन्त्र के नागरिक का है, जिसका भाग्य यूरोप भर में अपेक्षाकृत कम संख्यावाले धनी परिवारों द्वारा निर्धारित होता है, और जिसने स्वयं को एक व्यक्ति की मुट्ठी में अधिक मज़बूती से छोड़ देने के लिए अपना संविधान तक बदल डाला है ! दरअसल, ऐसे बुद्धिवादी, जो ह्रास के गढ़े में गिरे हुए हैं, चिन्ता, अनास्था, सन्देह, घृणा और निराशा में डूबे हुए हैं, वे ही लाल फीताशाही और एकतंत्रवाद के स्वादिष्ट भोजन साबित होते हैं। दूसरे शब्दों में, अगर हमें भावी बेलसेनों और दाचाओं के आविर्भाव के विरुद्ध लड़ना हुआ, तो हमें इन लोगों से कितनी सहायता मिल सकेगी, जिन्होंने अस्तित्व मात्र को ही मूर्खता, सिर चकराना और शून्यता के रूप में स्वीकार कर लिया है !

कहानी (The Story)

वह कौन-सी चीज़ है जो लोगों को उपन्यास पढ़ने की ओर सबसे अधिक प्रेरित करती है ? कहानी।

आप कहानी को निकाल दीजिये और पाठकों द्वारा आपके पढ़े जाने की संभावनाएँ तत्काल घट जायेंगी। मि० रोब्ब ग्रिल्लेत को भी इसकी सच्चाई का पता लग जाएगा, अगर वे 'द वोयर' जैसा एक और उपन्यास लिख लें। कुछ ग़ैर-पेशेवर लोगों ने इस उपन्यास को महज कुतूहल के लिए एक मौक़ा दिया है और इसलिए कि इसे एक साहित्यिक पुरस्कार मिला है, लेकिन कुतूहल केवल एक ही बार हो सकता है; अगर दुबारा कोई ऐसा ही उपन्यास लिखा गया तो फिर वह बात नहीं दुहरायी जायेगी। (मैंने ग़ैर-पेशेवर लोग कहा है, क्योंकि ऐसे पेशेवर लोग तो सदा ही रहेंगे—जैसे कि मैं—जिन्हें प्रयोगवादी उपन्यास पढ़ने के लिए पारिश्रमिक दिया जाता है, लेकिन यह बता दूँ कि 'द वोयर' जैसा नीरस और उबाऊ कोई दूसरा उपन्यास पढ़ने के लिए मैं बहुत अधिक पारिश्रमिक की माँग करूँगा!)

अगर लोग उपन्यास पढ़ना बन्द कर देंगे तो उपन्यास का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। महज तीन प्रयोगवादी फ्रांसीसी उपन्यासकारों के परस्पर एक-दूसरे के उपन्यास पढ़ने (हालाँकि वह भी कठिनाई से) और तारीफ़ के पुल बाँधने से उपन्यास जीवित नही रखा जा सकता।

रूप और वस्तु (Form and Content)

मि० रोब्ब ग्रिल्लेत का कहना है, "रूप और वस्तु का सदियों पुराना वर्गीकरण अभी तक दफ़नाया नहीं गया है।" निश्चय ही नहीं, क्योंकि, हालाँकि हम सभी लोग इसे कृत्रिम वर्गीकरण मानते है, यह भी सच है कि इसे क़ायम रखने से हम उपन्यास के सम्बन्ध में बहुत-सा उपयोगी विचार-विमर्श कर सकते है। उपन्यास, कम-से-कम कुछ उपन्यास तो निश्चय ही, 'कुछ' के बारे में होते हैं; यह 'कुछ' क्या है इसके सम्बन्ध में हम उपयोगी विचार-विमर्श कर सकते है, और साथ ही यह भी कि कितनी योग्यता या कुशलता से और किस रूप में, वह 'कुछ' प्रस्तुत किया गया है।

लेकिन मुश्किल तो यह है कि आज इन प्रयोगवादियों द्वारा उपन्यास दिन-पर-दिन अधिकाधिक खोखला किया जा रहा है, इसकी रोचकता कम की जा रही है, इसका आकर्षण हटाया जा रहा है। ये चिन्ताकुल, निराश और आस्थाहीन बुद्धिवादी आज के औद्योगिक समाज को झूठ-मूठ ही व्यक्तित्व के नाश के लिए जिम्मेवार समझ रहे हैं। मैंने 'झूठ-मूठ' इसलिए कहा, क्योंकि सामान्यतः स्थिति इसके विपरीत है। संभव है, अपने विशेषाधिकारों के खो जाने से कुछ व्यक्तियों

को पहले की अपेक्षा आज अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए कम अवसर मिल रहे हों; लेकिन दूसरी ओर, ऐसे लोगों की संख्या बहुत अधिक है जिन्हें औद्योगिक युग के पूर्व के समाज की अपेक्षा आज शिक्षा और आराम से जीवन जीने की अधिक सुविधाएँ प्राप्त हैं, और इसलिए आज उनके लिए अपने व्यक्तित्व के विकास की अधिक संभावनाएँ है।

●

अन्त में, हम एक बार फिर दुहरायेंगे कि आज उपन्यास को अधिकाधिक खोखला किया जा रहा है, परिणाम-स्वरूप इसमें आज बौद्धिक दुनिया के असाहित्यिक अंश की रुचि और श्रद्धा कम होती जा रही है। निष्कर्ष यह कि ये चिन्ताकुल, संदेहशील, निराश-हताश फ्रांसीसी लेखक न केवल उपन्यास को ही नष्ट करने पर तुले हैं, वरन् ये तो समूचे बौद्धिक जगत को ही — उसके एक अंश को दुनिया की निगाहों में गिराकर — कमज़ोर बना रहे है।

विज्ञान के क्षेत्र में भी आज कुछ वैज्ञानिक यही कर रहे है; वे इस तरह के सिद्धान्तों को पुनः चालू करना चाहते हैं जो बहुत पहले ही त्याग दिये गये थे, या जो शुद्ध बकवास हैं। बौद्धिक समाज के किसी भी हिस्से में क्यों न हों, ये ह्रासशील व्यक्ति आज के इस युग में तुरन्त पहिचान में आ जाते हैं, और तत्काल इनकी पोल खुल जाती है: ये एक ऐसे सिद्धान्त के प्रतिपादन में जी-जान से लगे हुए हैं, जिसके बारे में सभी जानते हैं कि वह सफल नहीं होगा।

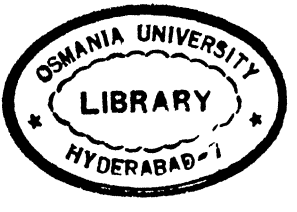
OSMANIA UNIVERSITY
LIBRARY
HYDERABAD

अरबी साहित्य में पुनर्जागरण

ताहा हुसैन

●

जन्म १४ नवम्बर १८८९, उत्तरी मिश्र में। मिश्री-अरब-उपन्यासकार, निबन्धकार और साहित्यिक इतिहास-लेखक। बचपन में ही दोनों आँखें नष्ट हो गयी थीं। १३ वर्ष की उम्र में अल-अज़हर विश्वविद्यालय में दाख़िला लिया, और इसके बाद क्रमशः कैरो और पेरिस में अध्ययन किया। सन् १९२५ में कैरो विश्वविद्यालय में अरबी साहित्य के प्रोफ़ेसर नियुक्त हुए; १९४२ में अलेक्जेण्ड्रिया विश्वविद्यालय में रेक्टर हुए, और १९५० में शिक्षा-मंत्री बने। तत्कालीन मिश्र के ये श्रेष्ठतम मानवतावादी और आधुनिक लेखक हैं। अपने साहित्यिक लेखन में, परम्परा के प्रति इनका दृष्टिकोण आलोचनात्मक रहा है। इनके उपन्यासों में इस्लाम के प्रारम्भिक इतिहास की कुछ प्रतीकात्मक और कुछ रोमानी ढंग से व्याख्या की गयी है।

प्रस्तुत अंश 'बुक्स एब्रोड' नामक पत्रिका में प्रकाशित उनके एक विस्तृत निबन्ध का स्वतंत्र संक्षिप्त-रूपान्तर है।

वर्तमान अधोगति के मलबे के नीचे दबे पड़े गरिमामय अतीत की ओर लालसा और गर्वपूर्ण दृष्टि से देखने के दोषियों में भारत के समान अरब भी दोषी करार दिया जा सकता है। दोनों ही देश महान् सांस्कृतिक परम्परा के जन्मदाता हैं। भारत के समान प्राचीन अरबी-साहित्य के कोष में भी न जाने कितने रत्न अभी तक विद्वानों की खोज और अध्ययन की प्रतीक्षा में अछूते पड़े हैं।

आश्चर्य होता है, जब हम इस महान् साहित्यिक परम्परा और क़ुरान के प्रणेता अरब को बीसवीं शताब्दी के पूर्व, पूरे एक सहस्त्र वर्षों तक, ग़फ़लत और निष्क्रियता की चादर ओढ़े पाते हैं। ऐसा लगता है कि पूर्वजों द्वारा कमाया हुआ अपरिमेय धन, तिजोरी के अँधेरे घरों में बन्द किये, किसी कंजूस की तरह केवल उसकी स्मृति के नशे की झोंक में ही, यह झूमता-ऊँघता रहा है। वैसे विद्वानों ने

अरबी साहित्य की इस सहस्रवर्षीय कुम्भकर्णी नींद के कई युक्तिसंगत कारण दिये हैं।

उनमें से पहला यह है कि प्राचीन साहित्य की गरिमा से पराभूत अरबवासी सुदूर अतीत में निर्मित साहित्यिक नियमों, रूढ़ियों और परम्पराओं के विरुद्ध जाने की बात लम्बी अवधि तक सोचने का साहस नहीं कर सके। उन्हीं रूढ़ियों के प्रतिबन्धों में जकड़े रहना उन्होंने स्वेच्छा से स्वीकार कर लिया, और जो कुछ लिखा जा चुका था, उसी के अनुकरण में अपने कर्तव्यों की इतिश्री समझते रहे। दूसरा कारण तुर्की के फ़ौलादी पंजों का कसाव था, जिसके कारण सदियों तक अरबवासी दूसरे प्रगतिशील देशों के सम्पर्क से वंचित रहे। क़ुरान की आयतों की अरबी भाषा की पवित्रता का प्रश्न भी, परिवर्तन और नवीन उद्भावनाओं के पथ में, चट्टान का कार्य कर रहा था?

उपर्युक्त कतिपय कारण हैं, जो अरबी साहित्य की इस सहस्रवर्षीय गति-हीनता के लिए पेश किए जाते है। कुछ भी हो, यह निर्विवाद है कि बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक अरबी भाषा और साहित्य की दशा टी० बी० के 'फ़ोर्थ स्टेज' पर पहुँचे हुए रोगी के समान हो चुकी थी। जड़ता और रूढ़ि की इस कारा से निकल कर आधुनिकता के स्वतन्त्र और उन्मुक्त वातावरण में जाना ही अरबी साहित्य का पुनर्जागरण (Renaissance) कहलाता है।

●

वैसे तो परिवर्तन के चिह्न बीसवीं सदी के प्रारंभ में ही दृष्टिगोचर होने लगते हैं, किन्तु इस घोर नींद में ग़ाफ़िल दैत्य को झकझोरकर पूरी तरह उठा देने का श्रेय प्रथम महायुद्ध को दिया जा सकता है। इस युद्ध में, अरबी देशों को, तुर्कों द्वारा जकड़ी हुई ग़ुलामी की शृंखलाओं से छुटकारा पाने का एक सुनहला अवसर दिखाई दिया, और वे अँग्रेज़ों की सहायता के लिए रणक्षेत्र में कूद पड़े। किन्तु युद्ध के बाद अँग्रेज़ों द्वारा वायदे पूरे न किये जाने पर, मिश्र के उदाहरण पर अन्य अरबी देश भी आज़ादी की लड़ाई में जुट गये। सन् १९१८ से प्रारंभ होने वाला यह दीर्घ संग्राम केवल राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं था, वरन् यह सभी रूढ़िवादी धारणाओं के विरुद्ध जिहाद था। धार्मिक, साहित्यिक और सामाजिक क्षेत्रों में तो इसने उथल-पुथल ही मचा दी।

विचारों की इस लड़ाई को आगे बढ़ाने में मिस्र के सन् १९२३ में पास हुए संविधान का भी बहुत बड़ा हाथ है। इसने अन्य कई महत्त्वपूर्ण अधिकारों के साथ, विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता भी घोषित की। किन्तु शासक

लोग इस संविधान की उपेक्षा का कोई भी अवसर हाथ से नहीं जाने देते थे। फलतः, बुद्धिजीवी और अधिकारी वर्ग के बीच संघर्ष होना स्वाभाविक था। लेखकों ने राजनीतिक और धार्मिक संस्थाओं की परंपरागत धारणाओं पर करारी चोट करनी आरम्भ की। इस सिलसिले में सन् १९२५ में प्रकाशित अली अब्दुल राज़िक की पुस्तक 'इस्लाम और शक्ति के सिद्धान्त' अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। इसने ख़लीफ़ाओं के परंपरागत दैवी अधिकारों पर प्रश्न-वाचक चिह्न लगा दिया। राज़िक ने साहसपूर्वक यह बताया कि शासन के संचालन के लिए ख़लीफ़ा-शाही का होना आवश्यक नहीं, वरन् उसका भी एक सामाजिक पहलू होता है। जनता अपनी सुविधाओं की दृष्टि से किसी भी प्रकार का शासन क़ायम कर सकती है। राजनीति और धर्म को इस प्रकार अलग कर देना, तत्कालीन रूढ़िवादी मान्यताओं पर एक ज़बर्दस्त प्रहार था, जिसने विचारों के जगत में तहलका मचा दिया।

सन् १९२६ में ताहा हुसैन ने 'इस्लाम-पूर्व का काव्य' नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित किया। इसके धर्म सम्बन्धी क्रांतिकारी विचारों का भी राज़िक की पुस्तक के समान ही व्यापक और गहरा प्रभाव पड़ा।

उपर्युक्त तीन प्रेरक शक्तियों ने मिलकर लोगों के सोचने की दिशा को ही बदल दिया, और वे प्रस्तुत समस्याओं और प्रश्नों पर एक नए दृष्टिकोण से विचार करने लगे।

●

विचारों के इस फटते ज्वालामुखी के क्रोड़ में साहित्य भला कैसे निरपेक्ष रह सकता था? परम्परा और प्रगति में यह संघर्ष वहाँ भी पूरे ज़ोर-शोर से चालू थ.। परम्परावादी, अरबी भाषा को एक पाक ज़बान के रूप में ही रखना चाहते थे; किसी भी प्रकार का परिवर्तन उन्हें असह्य था। दूसरी ओर, नया ख़ून अरबी को भी अन्य जीवित भाषाओं में एक मानने का आग्रह करता था। वह चाहता था कि तत्कालीन साहित्य, रूढ़ि की शृंखलाओं में जकड़ी अरबी में न लिखा जाकर, आम जनता की रोज़मर्रा की बोलचाल की भाषा में लिखा जाए। यह संघर्ष सन् १९३०तक चलता रहा, और मुस्तफ़ा उल् राफ़िल और अहमद उल् सिकन्दरी जैसे दिग्गजों और उनके चेलों के अथक प्रयत्नों के बावजूद पुरातनवादियों की जीत न हो सकी। अब्बास अल् अक्काद, अब्राहम अल मजनी, हुसैन हेकल, सालामा मूसा और ताहा हुसैन जैसे नवीनता के समर्थकों को ही जनता का अनुमोदन मिला। धीरे-धीरे पुरातनवादी भी अपने जीर्ण-शीर्ण कपड़ों को उतारकर

नए वस्त्र पहनने लगे। चाँकी ने, जो युवावस्था में दरबारी कवि रह चुके थे, अपनी पुरानी टेकनीक का पूर्णतः कायाकल्प कर डाला। मुहम्मद तैमूर जैसे विद्वानों ने भी बोलचाल की भाषा (ग्रामीण बोली) में कहानियों की रचना की। स्पष्टतः ही समूचे अरबी साहित्य की धारा उस समय नया मोड़ ले रही थी।

अब तक फ्रेंच और अँग्रेज़ी साहित्यों की महत्त्वपूर्ण कृतियों का ही अनुवाद अरबी में हुआ था; सन् १९२५ के लगभग अन्य यूरोपीय भाषाओं के महान् साहित्यकारों की कृतियों के भी अनुवाद किये गये। इस प्रकार दान्ते और गेटे तथा ताल्स्ताय और दास्तायवस्की की विभिन्न विचारधाराओं ने अरबी मस्तिष्कों को भी अधिक विस्तृत और परिष्कृत किया।

सन् १९२६ में, कैरो विश्वविद्यालय की स्थापना से वहाँ लैटिन और ग्रीक की पढ़ाई भी शुरू की गई। यूरोप के विभिन्न क्षेत्रों से प्रकाण्ड विद्वान बुलाये गये। साथ ही, यहाँ से भी विद्यार्थियों को यूरोप और अमेरिका में अध्ययन के लिए भेजा गया। इस प्रकार, अरबी देशों के अब तक के बन्द दरवाजे, प्रगतिशील और आधुनिक विचारों के आवागमन के लिए, पूरी तरह से खोल दिये गये।

१९२५ के बाद के अरबी साहित्य को इस व्यापक पृष्ठभूमि के बिना समझना सम्भव नहीं है।

●

इन पिछले पच्चीस वर्षों में अरबी साहित्य ने अभूतपूर्व प्रगति की है, इसका एक प्रमाण यूरोपीय विद्वानों की इस ओर बढ़ती अभिरुचि है। प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक, अरबी के केवल प्राचीन साहित्य को ही अध्ययन-योग्य समझा जाता था, किन्तु इधर गिब्ब जैसे विद्वानों ने आधुनिक अरबी साहित्य के मूल्यांकन का भी प्रशंसनीय कार्य किया है।

यह प्रगति गद्य, नाटक उपन्यास, कहानियाँ तथा आलोचना के क्षेत्र में विशेष रूप से दृष्टिगोचर हो रही है।

गद्य को एक आधुनिक देन तो नहीं कहा जा सकता, पर उसके विभिन्न आधुनिक अंग-उपांगों का प्रचलन प्राचीन समय में नहीं था। हालाँकि गद्य की पुस्तकें अरबी साहित्य में भी थीं, पर वे केवल इतिहास, विज्ञान, दर्शन और आलोचना तक ही सीमित थीं; उसमें रचनात्मक साहित्य का नितान्त अभाव था। आज गद्य की लोकप्रियता बहुत-कुछ अंशों में कविता की प्रगति पर भी हावी हो रही है। पत्रकार-कला, साहित्यिक निबन्ध, उपन्यास और छोटी कहानियाँ आधुनिक गद्य के ही वरदान हैं। इनकी बहुलता और लोकप्रियता सर्वथा आधुनिक है।

प्राचीन अरबवासी , थियेटर के महत्त्व और उसकी रूपरेखा हृदयंगम करने में असमर्थ रहे थे । वे ग्रीक ट्रेजेडी और कॉमेडी के अर्थ को भी पूरी तरह नही समझ सके थे । आधुनिक काल में फ्रेंच और अंग्रेज़ी नाटकों के सफल अनुवाद किए गए । वैसे चॉकी ने भी एक पद्यात्मक नाटक की रचना की और उसकी परंपरा को आबजा ने अपने काव्यात्मक नाटकों द्वारा आगे बढ़ाया, जो जनता द्वारा प्रशंसित भी हुए, किन्तु आधुनिक अर्थ में अरबी थिएटर के जन्मदाता तौफीक उल्-हकीम हैं । इनका सर्वप्रथम नाटक 'द कैवर्न पीपुल' सन् १९३३ में प्रकाशित हुआ । किन्तु आज के शक्तिशाली नाटककारों में नगीब उल रेहानी अग्रगण्य हैं, जिनमें मोलियर की प्रतिभा और सूझ-बूझ है । इनकी कॉमेडियों का व्यंग्य चुटीला और भाषा चुस्त होती है ।

●

उपन्यास आज के अरबी साहित्य का सर्वाधिक लोकप्रिय अंग है । सर्व-प्रथम सन् १९१४ के पूर्व प्रकाशित हुसैन हैकल के उपन्यास 'जैनब' की परम्परा पनप नहीं सकी । इसकी अपेक्षा जनता ने पाश्चात्य उपन्यासों के अनुवादों को अधिक पसन्द किया । आज के उपन्यासकारों में मुहम्मद तैमूर सर्वश्रेष्ठ हैं जो स्पष्टतः ही मोपासाँ से प्रभावित हैं । इनके उपन्यासों में मिश्र के जीवन की सच्ची अभिव्यक्ति उपलब्ध होती है । इनके अतिरिक्त अब्बास अल् अक्काद ने अपने उपन्यास 'साराह' में प्रेम के मनोवैज्ञानिक पक्ष का बहुत सुन्दर विश्लेषण किया है । इब्राहीम अल मजनी और ताहा हुसैन के नाम भी चोटी के उपन्यासकारों में आते हैं । ताहा हुसैन के उपन्यासों में 'कारवाँ की पुकार' और 'अदीब' अधिक प्रसिद्ध हैं ।

उपन्यास की इस सर्वाधिक लोकप्रियता के बावजूद, अरबी साहित्य के ये प्रतिनिधि लेखक उपन्यास-सृजन में अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा का जागरूक उपयोग नहीं कर सके । इनका मन इस क्षेत्र में रमा नहीं । यह स्वाभाविक ही था कि आधुनिक जीवन की अनिश्चितता और साहित्यिक मूल्यों की अस्त-व्यस्तता उनका अधिक ध्यान आकर्षित करती । फलतः वे आलोचना की ओर अधिक मुड़े— फिर चाहे वह साहित्यिक क्षेत्रमें हो या धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक क्षेत्रों में । पूर्वी और पश्चिमी मूल्यों के इस संघर्षकाल में, संक्राति-काल के इस डाँवाडोल और अराजक वातावरण में, यही अपेक्षित भी था ।

●

यह स्वीकार करना पड़ता है कि वर्तमान अरबी साहित्य की इस अभूतपूर्व

चतुर्दिक प्रगति के बावजूद,आधुनिक कविता प्राचीन काव्य की ऊँचाइयों को अभी नहीं पा सकी है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि आज का लेखक अभी तक आधुनिक जीवन के नवीन तत्त्वों को अपने समग्र रूप में आत्मसात् नहीं कर सका है। उसकी भावनाएँ और विचार आधुनिक जगत् में पूरी तौर से घुलमिल नहीं सके हैं। किन्तु यह निश्चित है कि अरबी कविता प्रगति के पथ पर सुदृढ़ कदमों से अग्रसर हो रही है, और आशा की जा सकती है कि निकट भविष्य में ही वह अपने विगत गौरव को फिर से प्राप्त कर लेगी।

हिन्देशियाई साहित्य में आधुनिक युग का सूत्रपात

जेम्स एस० होम्स

●

लेखक के जीवन-परिचय और उसके कृतित्व के सम्बन्ध में विशेष सूचनाएँ अनुपलब्ध।

प्रस्तुत अंश 'बुक्स एब्रोड' नामक पत्रिका में प्रकाशित उसके एक विस्तृत प्रबन्ध का स्वतंत्र संक्षिप्त-रूपान्तर है।

साहित्य की धारा के मार्ग में दो-चार छोटे-मोटे रोड़ों के आ जाने पर ही, पाश्चात्य साहित्य-मनीषी अपने पीछे चार शताब्दियों के आधुनिक साहित्य की समृद्ध परम्परा के बावजूद, जब गतिरोध की आवाज़ें बुलन्द करने लगते हैं, तब एशियाई साहित्यों के लिए क्या कहा जाए, जिनके रास्ते में तो गतिरोध-ही-गतिरोध है; एक-आध रोड़ा नहीं, समूची चट्टान ही खड़ी है। फिर हिन्देशिया का साहित्य इसका अपवाद कैसे हो, जो केवल गत पच्चीस वर्षों की ही आधुनिक साहित्यिक परम्परा का दावा कर सकता है।

हिन्देशिया के साहित्य में आधुनिक युग का प्रारम्भ सन् १९२८ से माना जा सकता है। सर्वप्रथम इसी समय हिन्देशियाई साहित्य तथा जीवन के अन्य क्षेत्रों में कुछ जागरूक शक्तियों का उदय होता है, जो धीरे-धीरे लोगों की विचार-सरणी को रूढ़ि के जटाजूट से निकालकर आधुनिकता के उन्मुक्त और विस्तृत क्षेत्र में लाने का भगीरथ-प्रयास करती दिखाई देती हैं। इन शक्तियों में 'युवक-सभा' का महत्त्व अन्यतम है। इसने जनता में राष्ट्रीयता की भावना का संचार किया, तथा स्वभाषा के महत्त्व को दर्शाते हुए हिन्देशियाई भाषा को देश की राष्ट्रभाषा घोषित किया। डच-भाषा के अंधभक्त, तथा स्वभाषा को तुच्छता की दृष्टि से देखनेवाले सभ्य और शिक्षित समाज को प्रथम बार हिन्देशियाई भाषा में लिखना अपमानजनक नहीं जान पड़ा।

सन् १९२८ से अब तक की इस लघु अवधि में हिन्देशियाई साहित्य ने कम उतार-चढ़ाव नहीं देखे। यह साहित्य-धारा अब तक चार महत्त्वपूर्ण मोड़ ले चुकी है। सन् १९२८ को हम आधुनिक हिन्देशियाई साहित्य का पहला मोड़ कह सकते हैं।

●

१९२८ के हिन्देशियाई साहित्य की परिस्थितियाँ आश्चर्यजनक रूप से हिन्दी-साहित्य के भारतेन्दु-युग से मिलती-जुलती है। वहाँ भी उस समय ऐसे लेखकों का एक दल तैयार हो चुका था, जो तत्कालीन साहित्य को प्राचीन रूढ़ि की शृंखलाओं से मुक्त करने के लिए कटिबद्ध था। सुलतान तक़दीर अलीजहबान, सानुसी पाने, अमीर हमज़ा और आरमीज़ीन पाने इस दल के प्रमुख लेखकों में हैं। सन् १९३३ में इस दल ने हिन्देशियाई भाषा की सर्व-प्रथम पत्रिका 'पुदजंगा बारू' का प्रकाशन शुरू किया, और तभी से यह दल भी 'पुदजंगा बारू' के नाम से विख्यात हो गया। १९३३ से जापानी आक्रमण के पूर्व १९४१ तक, हिन्देशिया की इस 'सरस्वती' ने ही लोगों की चित्तवृत्ति का प्रदर्शन और संचालन किया। 'पुदजंगा बारू' को इस काल के हिन्देशियाई सांस्कृतिक धरातल का केन्द्रीय मंच कह सकते है, जहाँ से हिन्देशियाई भाषा, साहित्य और संस्कृति पर महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किये गये।

'पुदजंगा बारू' दल के सर्वाधिक प्रभावशाली लेखक सुलतान तक़दीर अली-जहबान ही हिन्देशियाई साहित्य में आधुनिक युग के सूत्रधार हैं। युद्ध से पूर्व के साहित्य को गढ़नेवाले कुशल हाथ निश्चित रूप से इन्हीं के हैं। रूढ़ियों में जकड़े तत्कालीन समाज की गतिहीनता के तक़दीर साहब बड़े विरोधी थे, और थे पाश्चात्य गत्यात्मकता के हार्दिक समर्थक, जिसकी चाभी वे पाश्चात्य व्यक्ति-वादी प्रवृत्ति को मानते थे। 'कला कला के लिए' सिद्धान्त को वे राष्ट्रीय उन्नयन के पथ का काँटा समझते थे, कदाचित् इसीलिए उन्होंने डच उपन्यास 'टेक टाइगर्स' के आदर्श पर केवल समस्या-प्रधान उपन्यासों की ही रचना की, और शॉ के नाटकीय पात्रों के समान अपने उपन्यासों के चरित्रों को अपने विचारों का वाहक बनाया। हिन्देशियाई जीवन इस समय संक्रान्ति-काल की अग्नि-परीक्षा से गुज़र रहा था। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, पद-पद पर, परंपरागत धारणाओं और नई आती हुई पाश्चात्य प्रवृतियों में संघर्ष जारी था। शिक्षा, रूढ़िवादी विवाह, स्वच्छन्द प्रेम, नारी-स्वातंत्र्य आदि नाना समस्याएँ तत्कालीन मस्तिष्कों को मथे डालती थीं। फिर एक आधुनिक साहित्यकार भला ऋषि-मुनियों के समान

इन भौतिक हलचलों से कैसे वीतराग रह सकता था ? तक़दीर साहब ने इन्हीं समस्याओं पर अपने उपन्यासों में गहराई से विचार किया है। 'लज़ार टरकैम्बेंग' इन समस्त विशेषताओं को लिये हुए उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है।

आरमीज़ीन पाने के अतिरिक्त इस युग के अन्य उपन्यासकार तक़दीर साहब के असफल अनुकरण में ही व्यस्त रहे। हाँ, पाने ने 'बेलेंगु' (शृंखलाएँ) नामक उपन्यास की सन् १९४० में रचना की, जिसमें उसने एक दम्पति का उसके अतीत की अवांछनीय घटनाओं को लेकर मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया और दिखाया कि, किस प्रकार वे बीते हुए को भुलाकर वर्तमान को सुखी बनाने का प्रयत्न करते हैं। इस युग की केवल यही एक कृति है, जो किसी भी अच्छे तत्कालीन यूरोपीय अथवा अमरीकी उपन्यास के समकक्ष रखी जा सकती है।

●

इस काल की कविता का सर्वाधिक लोकप्रिय काव्यात्मक रूप चतुर्दश-पदी था। इसकी प्रेरणा उन्हें डच के रोमांस - काव्य से प्राप्त हुई। परंपरागत प्रतीकों के स्थान पर, यूरोप के स्वच्छन्दता युग के प्रतीक-विधान को अपनाया गया, लेकिन साथ ही सस्ती और काव्य के गुणों से हीन चतुर्दश-पदियाँ भी हज़ारों-लाखों की संख्या में लिखी गईं और 'पुदजंगा बारू' पत्रिका के पन्ने इनसे पाट दिये गए।

युद्ध-पूर्व की कविता के इस कबाड़ख़ाने में केवल अमीर हमज़ा ही एक ऐसे कवि हैं, जिनमें काव्य की चिरन्तनता के दर्शन होते हैं। आपकी कविताएँ 'जेंजी सुंजी' के नाम से सन् १९३७ में प्रकाशित हुई। इस युग के अस्त-व्यस्त झाड़-झंखाड़ में केवल यही कुछ पुष्प दृष्टिगोचर होते हैं। युद्ध-पूर्व की काव्य-परम्परा के आप ही एकमात्र और आख़िरी सेनानी हैं।

गद्य के समान पद्य में भी आरमीज़ीन पाने ही ने परम्परा की इस रोमैण्टिक बाँसुरी के विरुद्ध आधुनिकता के पांचजन्य का जयघोष किया। अमीर हमज़ा से नीची श्रेणी का कवि होते हुए भी, नई पौध पर आरमीज़ीन पाने का प्रभाव अधिक पड़ा। आप सच्चे अर्थ में आधुनिक कवि हैं। चुस्त और व्यंग्यात्मक भाषा, तथा कभी-कभी मुक्त छन्द में लिखी हुई उनकी कविता में तत्कालीन काव्य की कोमलता और मसृणता का अभाव था। अतः प्रारम्भ में उनको पाठकों की उपेक्षा, और समीक्षकों के तीक्ष्ण

प्रहारों का शिकार होना पड़ा, किन्तु युद्धोपरान्त की नई पौध ने पाने को ही नई कविता के प्रवर्तक के रूप में सम्मानित किया।

●

हिन्देशियाई साहित्य-धारा का दूसरा मोड़ सन् १९४२ के जापानी आक्रमण से प्रारम्भ होता है। जापानी शासन की अवधि में 'पुदजंगा बारू' पत्रिका की अन्त्येष्टि-क्रिया कर डाली गई, और इस दल के अधिकांश लेखकों ने लिखना बन्द कर दिया। जापानी पंजे के कठोर नियन्त्रण ने तत्कालीन साहित्य को मृतवत् बना डाला।

हाँ, भाषा की दृष्टि से जापानी विजय को बहुत महत्त्व दिया जाना चाहिए। डच भाषा को राजकीय सिंहासन से बाइज्ज़त उतार दिया गया, और चूँकि तत्काल जापानी भाषा को सरकारी कुर्सी पर बैठाना संभव नहीं था, अतः इस परिवर्तन-काल तक के लिए हिन्देशियाई भाषा को ही वह सम्मान मजबूरन देना पड़ा। शैक्षणिक संस्थाओं और समस्त सरकारी कार्यों में हिन्देशियाई भाषा का उपयोग किया जाने लगा, और इस प्रकार सन् १९२८ में 'युवक सभा' के प्रयत्नों से जिस आन्दोलन को केवल सैद्धान्तिक सफलता प्राप्त हुई थी, वह अब प्रथम बार व्यावहारिक रूप में भी सफल हुआ।

१९४२ से १९५५ के स्वातन्त्र्य-घोषणा-दिवस के बीच हिन्देशियाई साहित्य की दशा अत्यन्त शोचनीय रही। इस अवधि में उबा देनेवाले और घोर प्रचारात्मक साहित्य की रचना होती रही। सन् १९४५ के बाद अचानक ही पावस के प्रथम मेघों की तरह कई प्रतिभाशाली लेखक साहित्यिक मंच पर दिखाई दिये। इनमें कैरिल अनवर (१९४२–१९४७) और ईद्रुस (१९२१) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यहीं से हम तीसरा मोड़ मान सकते है।

●

कैरिल अनवर पर डच और जर्मन अभिव्यंजनावादियों, रिल्के तथा अन्य विभिन्न यूरोपीय लेखकों का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। हिन्देशियाई साहित्य के सर्वप्रथम लेखक कैरिल अनवर ही हैं, जिन्होंने इन विभिन्न पाश्चात्य पद्धतियों और टेकनीक को आत्मसात् करने का सफल प्रयास किया। ये परम्परा के कट्टर विरोधी थे। इनका काव्य मखमली मसृणता से हीन, एक ज़ोरदार व्यक्तित्व की अनावृत्त, अनलंकृत अभिव्यक्ति है। इनकी कविताओं का संग्रह मृत्यु के उपरान्त १९४९ में 'देबु जम्पर देबु' के नाम से प्रकाशित हुआ।

ईद्रुस, एहरेनबर्ग और हेमिंग्वे से प्रभावित अवश्य थे, किन्तु उनके मानस

पर गहरा प्रभाव पड़ा अपने चारों ओर फैले हुए जापानी बूटों के नीचे पिसते हिन्देशिया के सामान्य जन-जीवन का। यही जन-जीवन उनके साहित्य का धरातल बना। सन् १९४६ में उनका 'जोरेत-जोरेत दिबावा ताना' प्रकाशित हुआ, जिसमें लघु स्केचों के माध्यम से, छोटे-छोटे, चुभते, व्यंग्यात्मक वाक्यों में तत्कालीन पीड़ित जीवन की मार्मिक अभिव्यक्ति की गई थी।

सन् १९४५ में इन दो महारथियों के इर्द-गिर्द अनेक नये तरुण लेखकों का एक समूह एकत्रित हो गया था, जिसे 'अंगातन ४५' (पैंतालीस की पौध) का नाम दिया गया है; ये क्रान्तिकारी मानवता के उपासक थे। 'सब कुछ एकदम नया हो' इनका 'मोटो' था। अपने 'मैनीफ़ेस्टो' में इन्होंने घोषणा की कि "संकीर्णता की ओर ले जाने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति का हम विरोध करेंगे।...हम अपनी खोजों में मौलिक भले ही न हों, पर हमने मानवता को खोज लिया है।"

इस पैंतालीस की पौध ने ईलियट और स्टीनबेक जैसे आधुनिक लेखकों का नये दृष्टिकोण से अध्ययन, मूल्यांकन और हिन्देशियाई भाषा में अनुवाद किया। नये कवि और कहानीकार तैयार हो रहे थे। इस पैंतालीस की पौध का सर्वाधिक प्रभावशाली लेखक प्रमोद्य अनन्त टोर (१९२५) है। टोर के उपन्यासों में 'कैलवर्गा गेरिल्ला' और 'परबर्नन' (१९५०) विशेष उल्लेखनीय है। टोर ने 'आफ़ माइस एण्ड मेन' का हिन्देशियाई भाषा में अनुवाद भी किया।

●

साहित्य में सदा क्रिया और प्रतिक्रिया का द्वन्द्व चलता आया है। पैंतालीस की पौध भला प्रतिक्रिया की इस सर्वव्यापी पहुँच से कैसे बच सकती थी! उस पर तीन विभिन्न दिशाओं से प्रहार किये जा रहे है। 'पुदजंगा बारू' दल के लेखक पैंतालीस के इस आन्दोलन को अपना ही एक अभिन्न अंग घोषित कर इसके अस्तित्व को ही अपने में आत्मसात् कर लेने के लिए आतुर हैं। मुस्लिम-स्कूल के परम्परावादी लेखक इसकी धार्मिक उपेक्षा से नाराज हैं। तीसरे हैं, मार्क्सवादी, जो इसके व्यापक मानवतावादी दृष्टिकोण को नापसन्द करते हैं, और इस पौध के लेखकों को क्रान्ति-विरोधी होने का दोषी ठहराते हैं। पैंतालीस की पौध के विरुद्ध यह प्रतिक्रिया ही चौथा मोड़ है।

हालाँकि इस नई प्रतिक्रिया के सेनानियों ने अभी तक किसी महान् कृति की रचना नहीं की है, किन्तु फिर भी उनकी प्रतिक्रिया नितान्त आधारहीन नहीं कही जा सकती। वस्तुतः १९४९ में सत्ता के हस्तांतरण के बाद से, यह पौध निष्क्रिय और गतिहीन हो चली थी।

नये लेखक कुछ महत्त्वपूर्ण चीज़ अभी तक दे नहीं पाये है, और पुराने निष्क्रिय हो चले है, यही वह स्थिति है जो साहित्य में गतिरोध के प्रश्न के रूप में वर्तमान हिन्देशियाई लेखकों में चर्चा का विषय बनी हुई है।

क्या यह गतिरोध वास्तविक है? क्या हिन्देशियाई साहित्य का भविष्य अंधकारमय है? —आदि कुछ प्रश्नों का उठना स्वाभाविक है। बात यह है कि फ़िलहाल हिन्देशिया के अधिकांश प्रमुख लेखक और प्रतिभाशाली तरुण विद्यार्थी, अमेरिका और यूरोप के विभिन्न देशों में अध्ययन कर रहे हैं। भावी हिन्देशियाई साहित्य इन्हीं की ओर आशापूर्ण दृष्टि से देख रहा है। अतः गतिरोध की यह स्थिति रात्रि के उस चौथे प्रहर की तरह है, जिसके पूर्वी क्षितिज पर प्रभात की अरुणिमा शीघ्र ही फैलने वाली हो।

अस्तित्ववाद और उसका आधुनिक सन्त : ज्याँ-पॉल सार्त्र

मॉरिस क्रैन्स्टन

●

लन्दन स्कूल आफ् इक्नोमिक्स में राजनीति-शास्त्र के व्याख्याता। लेकिन दर्शन-शास्त्र में इनकी रुचि केवल उसके राजनीतिक पक्ष तक ही सीमित नहीं है। इनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, जिनमें 'फ्रीडम' [१९५३] 'ह्यूमन राइट्स टूडे' [१९५४] और 'जॉन लॉक' की जीवनी [१९५७] प्रमुख हैं।

इनका प्रस्तुत लेख स्टीफेन स्पेण्डर द्वारा सम्पादित 'एन्काउण्टर' पत्रिका के अप्रैल, १९६२ के अंक में 'ज्याँ-पॉल सार्त्र' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है, जिसका संक्षिप्त-रूपान्तर यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

आधुनिक फ्रांसीसी लेखकों में सार्त्र सबसे कम 'फ्रांसीसी' है। वह इतना अधिक पवित्रतावादी और दृढ़ निश्चयी, इतना अधिक रोमानी और भावुक, अध्यात्म से इतना अधिक अभिभूत, और इतना अधिक परिश्रमी है, कि वह फ्रांसीसी की अपेक्षा जर्मन अधिक लगता है।

सार्त्र को अस्तित्ववाद का आधुनिक सन्त कहा जा सकता है। विश्व-युद्ध के पहले भी सार्त्र ने अस्तित्ववादी दर्शन की शास्त्रीय व्याख्या करनेवाली तीन-चार पुस्तकें लिखी थीं—और उससे भी अधिक दिलचस्प और महत्त्वपूर्ण बात यह कि कुछ कथा-कृतियाँ भी लिखी थीं जिनमें 'ला नौसिया' शीर्षक एक उपन्यास और 'ला मुर' शीर्षक एक कहानी-संग्रह विशेष उल्लेख्य हैं। 'ला नौसिया' किसी भी अर्थ में राजनीतिक नहीं है, बल्कि अपने सम्पूर्ण तीखेपन से दार्शनिक है; इसका हर पहलू किसी-न-किसी रूप में सार्त्र के सैद्धान्तिक विचारों से सम्बन्धित है; चाहें तो इसे अस्तित्ववादी उपन्यास की बाइबिल कह सकते हैं।

यह उपन्यास एन्तोइने रोक्वेन्तिन नामक एक व्यक्ति की डायरी के रूप में है। रोक्वेन्तिन अठारहवीं सदी के एक मार्क्विस की जीवनी लिखने में लगा हुआ है। उसकी आयु तीस वर्ष है, आय सामान्य है; उसका न कोई परिवार है, न कोई धंधा; यानी इन तथाकथित 'बंधनों' से वह मुक्त है। अस्तित्ववादी शब्दावली में कहें तो वह 'स्वतंत्र' है। वह दुनिया में काफ़ी घूमा हुआ है। हम उसे 'स्वतंत्र' कहना चाह सकते हैं, लेकिन इस उपन्यास की एक स्थापना यह भी है कि रोक्वेन्तिन सचमुच स्वतंत्र नहीं है। वह केवल 'अनकॉमिटेड' है—यानी दायित्व वहन करने से अस्वीकार करता है; और सार्त्र की आधारभूत आस्थाओं में से एक यह भी है कि दायित्व स्वीकार न करना स्वतंत्रता का केवल उपहास है; दरअसल यह स्वतंत्रता से पलायन करने का ही एक रूप है।

स्पष्टतः रोक्वेन्तिन सुखी नहीं है। उसका कोई मित्र नहीं; उसे कोई पत्र नहीं लिखता; उसकी बातचीत भी कभी-कभी मिल जाने वाले परिचितों तक ही सीमित है। उसके दिन एक क़िस्म की उत्साह-रहित मायूसी में गुज़रते हैं, जिसके बीच-बीच में उसे रह-रहकर दौरे आते रहते हैं—चिन्ता, ऊब, बेचैनी, और अन्य प्रकार के मानसिक तनावों के; जो सार्त्र के संसार में मनोवैज्ञानिक अस्तव्यस्तता के उतने सूचक नहीं हैं, जितने कि आध्यात्मिक यथार्थ के।

रोक्वेन्तिन के लिए यह संसार अधिकाधिक असह्य होता जाता है, और जितना ही अधिक असह्य होता जाता है, वह उसकी असली प्रकृति के उतना ही अधिक निकट पहुँचता जाता है। रोक्वेन्तिन को महसूस होता है कि वस्तुएँ उसे छू रही हैं, "मानो वे जीवित हैं", "मानो वे जीवित प्राणी हैं"। भौतिक वस्तुएँ उसे चिपचिपी, अनावश्यक और व्यर्थ प्रतीत होती हैं; इसी तरह मानव प्राणी भी उसे अनावश्यक और व्यर्थ प्रतीत होते हैं; अपने बारे में भी उसे यही बात सच लगती है: "और मैं—कोमल, कमज़ोर, अश्लील, खाने और हज़म करने की मशीन, निराश विचारों की ऊहापोह में डूबता-उतरता—मैं भी तो व्यर्थ ही था।"

प्रश्न उठता है कि रोक्वेन्तिन की यह बेचैनी किस अर्थ में आध्यात्मिक है? बात यह है कि वह इस सृष्टि को अनेक अवयवों से बनी हुई एक ऐसी पूर्ण मशीन के रूप में देखना चाहता है जैसी कि यह न्यूटन या लीबनीज़ के ज़माने में समझी जाती थी; जहाँ सब-कुछ सुव्यवस्थित, तर्कयुक्त, विवेकपूर्ण था, ऐसा कि जिसके बारे में पहले से ही भविष्यवाणी की जा सकती थी; जहाँ हर चीज़ अपनी जगह पर आवश्यक थी, उसका एक उद्देश्य था; जहाँ सब

चीज़ों पर शासन करनेवाला एक ईश्वर था और एक ऐसा नैतिक विधान था जो सब लोगों के सामने प्रदर्शित किया जा सकता था; जहाँ विज्ञान के विधि-विधान अकाट्य थे—वहाँ और केवल वहाँ ही रोक्वेन्तिन स्वयं को सहज महसूस कर सकता है। यह आध्यात्मिक क्लेश जितना रोक्वेन्तिन का है उतना ही उसके लेखक—सार्त्र—का भी है।

रोक्वेन्तिन यह मानकर चलता है कि जैसा वह चाहता है, सृष्टि को वैसा ही होना चाहिए—एक ऐसी विवेकपूर्ण इकाई जिसमें किसी-न-किसी रूप में हर वस्तु का अस्तित्व आवश्यक हो। लेकिन अपने 'नौसिया' की तीव्र अनुभूति के क्षणों में उसे महसूस होता है कि ऐसा है नहीं; दरअसल यह जगत तो चिपचिपा, बेढंगा, आधे ठोस और आधे तरल पदार्थ का मिला-जुला एक ऐसा 'पेस्ट' है, जिसे कि वह अपनी आँखों से देखता है, मात्र यह 'पेस्ट' ही यथार्थ है; इससे उच्चतर किसी व्यवस्था का कोई अस्तित्व नहीं है। एक दिन पार्क में बैठा हुआ वह एक अखरोट के पेड़ की जड़ की ओर ग़ौर से देख रहा था जब अचानक उसे बोध होता है कि उसके 'नौसिया' का क्या अर्थ है, और तदनुरूप अस्तित्व क्या है। उसे महसूस होता है "कि मुख्य बात 'अनिश्चितता' है। मतलब यह कि कोई भी व्यक्ति अस्तित्व को आवश्यक सिद्ध नहीं कर सकता। अस्तित्व का सीधा-सादा अर्थ है 'मात्र वहाँ होना'।"

यहाँ कुछ लोग पूछ सकते है कि, आख़िर इस सब तूमार का मतलब क्या? वस्तुतः रोक्वेन्तिन एक ऐसा आदमी है जिसके लिए आध्यात्मिक प्रश्न जीवन और मृत्यु के प्रश्न है। एक ऐसे जगत में जिसके विधि-विधान अनिश्चित हों, उसके लिए कोई सुरक्षा नहीं। वह स्वयं से कहता है, "अगर ऐसा है, तो मेरी जीभ एक कनखजूरे में भी बदल सकती है।" इस तरह की शंका उठाना फैंटेस्टिक ही कहा जायेगा।

दरअसल, अस्तित्ववाद का मानसिक धरातल इससे अधिक भावुक, रोमानी, और ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो धर्म से सम्बन्ध रखता है। पहला अस्तित्ववादी किर्केगार्ड अपनी आस्थाओं में दृढ़ ईसाई था, और उसके अस्तित्ववाद का उद्देश्य ही यह बताना था कि ईसाई विश्वासों का प्रमाण बौद्धिक तर्कों में नहीं पाया जा सकता, बल्कि केवल उस पापी की एकाकी पीड़ा में ही पाया जा सकता है, जो ईश्वर से बिछुड़ चुका है। बहुत से ईसाई हैं, जिनके लिए एक ऐसे जगत में रहना ही कल्पनातीत और भयावह है जहाँ ईश्वरीय पिता का अस्तित्व नहीं हो। रोक्वेन्तिन की दशा भी ठीक उन्हीं जैसी है। सार्त्र एक ऐसा नास्तिक

है, जो ईश्वर के प्रति इन्सान की प्यास को समझता है, लेकिन साथ ही यह भी कहता है कि मानवात्माओं की यह प्यास कभी मिटेगी नहीं, सन्तुष्ट नहीं होगी; और उन्हें चाहिए कि इस तथ्य को समझकर ही वे जीवित रहना सीखें। 'एल एक्ज़िस्टेंशियलिज़्म एस्ट अन ह्यमैनिज़्म' (१९४५) शीर्षक अपने एक व्याख्यान में सार्त्र कहता है :

"अस्तित्ववादी उस क़िस्म की धर्मनिरपेक्ष नैतिकता का दृढ़ विरोधी है जो बिना कोई मूल्य दिये ईश्वर को मिटा देना चाहती है। सन् १८८० के आसपास जब फ्रांसीसी प्राध्यापकगण एक धर्म-निरपेक्ष नैतिकता के निर्माण का प्रयत्न कर रहे थे तो उनका कथन कुछ इस प्रकार था : 'ईश्वर एक निरर्थक और ख़र्चीला आविष्कार है, इसलिए हम उसके बिना ही काम चला लेंगे। अगर ईश्वर का अस्तित्व नहीं भी रहे, तो उससे कोई फ़र्क नहीं पड़ेगा; हम ईमानदारी, प्रगति और मानवता आदि के वैसे ही मानदण्डों का पुनः आविष्कार कर लेंगे, और इस पुराने पड़े आविष्कार ईश्वर से छुटकारा पा लेंगे जो शान्ति से स्वयं अपनी ही मौत मर जायेगा।' दूसरी ओर अस्तित्ववादी को इस बात से बेहद परेशानी महसूस होती है कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है; क्योंकि उसके न होने की स्थिति में अदृश्य स्वर्ग में मूल्यों को प्राप्त करने की समस्त संभावनाएँ भी साथ-साथ अदृश्य हो जाती हैं।"

ईश्वर के अभाव का यह गहरा भाव सार्त्र के दर्शन का केन्द्र है। रोक्वेन्तिन के 'एकाकीपन', उसके 'भय' और उसकी 'असहाय स्थिति' का कारण भी यही भाव है। फिर भी, जहाँ एक बार रोक्वेन्तिन इस पीड़ा को झेलना सीख लेता है, इस सत्य का सामना कर लेता है कि वह एक ईश्वर-रहित जगत में रहता है, तो वह एक महान् और लाभदायक सत्य की प्राप्ति कर लेता है। अगर सृष्टि अनिश्चित और अनियमित है, तो साथ ही स्वतंत्र भी है। भविष्य सामने खुला पड़ा है। बीते हुए कल का कोई भी दास नहीं है। "सब स्वतंत्र हैं," वह स्वयं से कहता है, "यह पार्क, यह नगर, और स्वयं मैं भी।"

●

यही सार्त्र की दूसरी महत्त्वपूर्ण स्थापना है कि मनुष्य स्वतंत्र है, और चूंकि मनुष्य स्वतंत्र है, इसलिए जो कुछ वह है, और जो कुछ वह कहता है, उस सबके लिए स्वयं वही उत्तरदायी है। वह मशीन का महज एक पुर्ज़ा नहीं है, भाग्य या परिस्थिति का खिलौना मात्र नहीं है, कठपुतली या रोबोट नहीं है: वह वही है जो स्वयं को बनाता है; और स्वयं को वह जैसा बनाता है,

उसके लिए ज़िम्मेदार भी वही है। यही कारण है कि सार्त्र के अनुसार 'कमिट' नहीं करना—यानी दायित्व वहन करने से अस्वीकार करना—स्वतन्त्रता को भी अस्वीकारना है। दायित्व किसी भी रूप में टाला नही जा सकता। जो इससे बचना चाहते है वे स्वयं को धोखा देते है : सार्त्र के अनुसार ऐसे लोग बुरी आस्था के दोषी होते है। 'ला नोसिया' में रोक्वेन्तिन की कथा एक ऐसे व्यक्ति की कथा है, जो आत्म-प्रवंचना से आत्म-ज्ञान की ओर अग्रसर होता है।

रोक्वेन्तिन में यह परिवर्तन उस समय आता है जब वह इस बात पर ग़ौर करता है कि वह स्वयं को अपने 'जीवित रहने का क्या कारण' दे सकता है! सार्त्र के 'सृष्टि की अनिश्चितता' के सिद्धान्तानुसार यही निष्कर्ष निकलता है कि हमें ईश्वर या प्रकृति द्वारा 'जीवित रहने का कोई कारण' नहीं बताया जाता है! हर व्यक्ति को अपने 'जीवित रहने का कारण' स्वयं ही खोजना पड़ता है; रोक्वेन्तिन अपना यह कारण साहित्य में पाता है। एक दिन एक अमरीकन जॉज़ संगीत का रेकार्ड सुनते समय वह एक ऐसे यहूदी संगीतकार की कल्पना करता है, जो अपने 'जीने का कारण' संगीत की इस छोटी-सी ट्यून के निर्माण में पाता है। रोक्वेन्तिन स्वयं से प्रश्न करता है : "अगर एक संगीतकार अपने जीने का कारण खोज सकता है, तो मैं क्यों नहीं ऐसा कर सकता?" उसका अपना रुझान लेखन की ओर है। लेकिन वह स्वयं से कहता है कि दूसरों की जीवनियाँ लिखे जाना व्यर्थ है, क्योंकि अपना अस्तित्व किसी दूसरे के अस्तित्व में खो देना होता है। नहीं, यह रचनात्मक साहित्य ही हो सकता है; और रोक्वेन्तिन एक उपन्यास लिखने का निश्चय करता है। यह आसान तो नहीं है, लेकिन रोक्वेन्तिन सोचता है :

"यह उपन्यास लिख लिया जायेगा, तो एक समय आयेगा जब मैं पीछे पलटकर अपने जीवन पर दृष्टि डालूंगा और केवल इसी के कारण अपने बीते हुए जीवन को बिना पश्चाताप के याद कर सकूंगा।"

इस तरह 'ला नौसिया' का अन्त एक स्पष्ट आशावादी स्वर में होता है; और इस आशा का स्रोत है—'कला के माध्यम से मुक्ति प्राप्त करने का विचार'। यह आसानी से समझा जा सकता है कि सार्त्र को यह विचार क्यों इतना पसन्द है : कला में हम एक ऐसे संसार की सृष्टि करते हैं जिसमें वह सब कुछ रहता है, जो कि वास्तविक जगत में नहीं रहता—जैसे व्यवस्था, समन्वय, भविष्यवाणी आदि सब ऐसी विशेषताएँ हैं, जिनका वास्तविक जगत में नहीं होना सार्त्र को बहुत पीड़ा देता है; ये सब एक कलाकृति में उपस्थित रहती हैं। लेकिन

कला के माध्यम से मुक्ति प्राप्त करनेवाले इस विचार से भी सार्त्र अधिक समय तक सन्तुष्ट नहीं रहा।

●

'ला नौसिया' का प्रकाशन सन् १९३८ में हुआ था, और यह सार्त्र के उपन्यासों में सर्वाधिक सफल माना जाता है। इसके अतिरिक्त इस समय तक सार्त्र ने कुछ कहानियाँ भी लिखी थीं, जिन्होंने भी लोगों का ध्यान कम आकर्षित नहीं किया था। १९४० के नाजी आक्रमण के दिनों में सार्त्र को क़ैद कर लिया गया था, लेकिन अपने कमज़ोर स्वास्थ्य का हवाला देकर उसने एक ही वर्ष के भीतर जर्मनों से छुटकारा पा लिया। पेरिस लौटकर उसने अपना पहला नाटक 'ला मोचे' लिखा। इस नाटक का उद्देश्य और अर्थ बहुत साफ नहीं, लेकिन कम-से-कम एक बात बहुत स्पष्ट है कि इसमें सार्त्र 'कला के द्वारा मुक्ति' वाला विचार छोड़ देता है; और उसकी जगह बहुत-कुछ 'क्रिया द्वारा मुक्ति' वाले साम्य-वादी सिद्धान्त के निकट आ जाता है। 'ला मोचे' एक दुःखान्त नाटक है; उसका नायक ओरेस्टस छद्मवेश में अपने जन्मस्थान वाले नगर आरगोस लौटता है, तो पाता है कि नगर महामारी और धार्मिक भय से आक्रान्त है। वह नगर छोड़ देने के देवताओं के आदेश की अवहेलना करता है और धोखे से गद्दी पर कब्ज़ा करने वाले राजा (सौतेले पिता) और धोखेबाज़ रानी (अपनी सगी माँ) की हत्या करने के लिए वहीं रुक जाता है; और अपना यह कार्य पूरा करने के बाद गर्व से अकड़ता हुआ चला जाता है। नाटक का केन्द्रीय तर्क यह है कि ओरेस्टस देवताओं के सर्वशक्तिमान होने की बात स्वीकार नहीं करता। वह जुपिटर से कहता है कि मनुष्य स्वतंत्र है; इसलिए अपने मूल्यों का निर्माण उसे स्वयं ही करना होगा। राजा और रानी की हत्या करके उसने कोई अपराध किया है—इसे भी ओरेस्टस स्वीकार नहीं करता। ऐसा करने में उसने नैतिक विधान का पालन किया है; और सृष्टि में इसी एकमात्र नैतिक विधान का अस्तित्व है। वह तो यहाँ तक कहता है कि इन्सान भी देवताओं के समान ही हैं। दोनों ही स्वतंत्र हैं। "हम दोनों एकाकी है, और हमारी पीड़ा समान है।"

इस नाटक में एक छिपा हुआ प्रतीकार्थ भी था। वे जर्मनों के विरुद्ध प्रति-रोध-आन्दोलन के दिन थे; सौतेला पिता विजयी जर्मनों के लिए और धोखेबाज़ माँ उनके साथ सहयोग करने वाले देशद्रोही फ्रांसीसियों के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इसलिए कुछ समय चलने के बाद इस नाटक पर प्रतिबंध लगा दिया गया था। यों इस प्रतीकार्थ पर एक आपत्ति यह उठाई जा सकती है कि ओरेस्टस अपने

नगर के लिए कुछ करता नहीं, महज यह खूनी कृत्य करके चला जाता है। लगता है, इस नाटक के निर्माण का प्रमुख उद्देश्य इस परम्परावादी भावना को दूर करना था कि मार-काट और हिंसा नैतिक विधान के विरुद्ध हैं। उस समय इस अस्तित्ववादी सिद्धान्त की यही उपयोगिता थी कि नैतिक विधान जैसी कोई सामान्य चीज़ नहीं है--सिवाय उन मूल्यों के जिनका निर्माण मनुष्य स्वयं ही अपने लिए कर लेते हैं।

'ला मोचे' में सार्त्र का मुख्य कथन यही है कि नैतिक सिद्धान्त ईश्वर द्वारा नहीं बनाये जाते हैं, बल्कि मनुष्य अपने नैतिक मूल्यों का निर्माण स्वयं ही करते हैं। नैतिक विधि-विधान निर्णयों पर निर्भर होते है, आध्यात्मिक बोध पर नहीं। और चूंकि वे अपने मूल्यों के निर्माता स्वयं हैं, इसलिए उनसे इस बात की अपेक्षा तो की ही जा सकती है कि वे अपने मूल्यों के प्रति खरे रहें। क्योंकि अगर उनके कार्य उनके सिद्धांन्तों के अनुकूल नहीं हैं, तो फिर यह नहीं कहा जा सकता कि उनका कोई सिद्धान्त है भी। फिर तो ये सिद्धान्त मात्र खोखले शब्द भर रह जाएँगे। इसलिए खरापन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात है।

●

यहीं सार्त्र का तत्त्ववादियों से विरोध है। एक तत्त्ववादी ऐसे आदमी का भी हवाला दे सकता है जिसका स्वभाव अच्छा है लेकिन व्यवहार खराब है। अस्तित्ववादी यह नहीं मानता : एक अस्तित्ववादी की दृष्टि में व्यक्ति जो कुछ करता है, उसी का प्रतिरूप वह है। सार्त्र ने अपने दूसरे नाटक 'होई क्लोस' (१९४३) में इसी बात को ज़ोरदार अभिव्यक्ति दी है। 'होई क्लोस' नाटक एक विचित्र क़िस्म के नरक में प्रस्तुत किया गया है। यह एक खिड़की-रहित कमरा है, जिसमें फर्नीचर नाममात्र को ही है। एक के बाद एक करके तीन पात्र प्रस्तुत किये जाते हैं। प्रत्येक यह आशा करता है कि वह वहाँ आग और पत्थर और यातना के अन्य साधन पायेगा। वहाँ इनमें से कुछ नहीं मिलता। लेकिन जल्दी ही तीनों को पता चलता है कि वे दण्ड से बच नहीं सकते, उन्हें स्वयं ही अपने को यंत्रणा देनी होगी। प्रत्येक दूसरे को यातना देता है : 'दूसरे लोग ही नरक हैं'--यही है सार्त्र का प्रसिद्ध कथन।

इस नाटक के तीन पात्रों में दो औरतें हैं, जिनमें बड़ी का नाम इनिस और छोटी का एस्टेला है। पुरुष का नाम गारसिन है जो एक भीरु क़िस्म का इन्सान है और अपनी इस ग़लत आस्था की पुष्टि के लिए तत्त्ववाद का सहारा लेता है कि हालाँकि उसने कायरों की तरह व्यवहार किया है, लेकिन दरअसल उसकी

आत्मा या प्रकृति बहादुर है। इस पर इनिस उसे अस्तित्ववाद का कष्टदायक संदेश सुनाती है कि इन्सान का असली रूप वही है जो वह करता है ; इससे कम या ज्यादा कुछ नहीं। गारसिन के पास बहादुर होने की आत्मा या तत्त्व है ही नहीं। वह कायर है, क्योंकि उसके कार्य कायरों जैसे हैं।

एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस नाटक के सभी पात्र मृत हैं। सार्त्र ने महज किसी नाटकीय उपलब्धि के लिए ही इसे नरक में प्रस्तुत नहीं किया है, बल्कि इसलिए कि इसका विषय ही नरक-यातना है। इस तरह इसमें 'ला नौसिया' और 'ला मोचे' में प्रस्तुत मुक्ति वाले विषय के दूसरे पहलू नरक-यातना की छान-बीन की गयी है।

●

इसके बाद सार्त्र ने चार भागों में नियोजित एक उपन्यास 'ले चेमिन्स दे ला लिबर्ते' (१९४६–४९) में हाथ लगाया जिसमें पुनः सार्त्र का वही स्वतंत्रता और मुक्ति वाला पुराना विषय प्रस्तुत किया गया है। लेकिन सार्त्र ने इस उपन्यास को कभी पूर्ण नहीं किया। इस उपन्यास को अपूर्ण छोड़ने के दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि सार्त्र का नैतिकता सम्बन्धी सिद्धान्त ही अपूर्ण था, इसलिए यह उपन्यास आगे नहीं बढ़ सका। इस उपन्यास के अधूरा छोड़ दिये जाने का दूसरा कारण यह है कि सार्त्र को अपने मानवीय सम्बन्धों वाले सिद्धान्त में भी विरोधाभास महसूस हो रहा था। अपने नैतिकता सम्बन्धी सिद्धान्त की एकमात्र कसौटी सार्त्र खरापन मानता रहा है। एक स्थिति ऐसी आयी जब अपने इस खरेपन वाले सिद्धान्त की अपूर्णता का ज्ञान उसे स्वयं हो गया। इसलिए हमें दूसरे कारण 'मानवीय सम्बन्धों वाले सिद्धान्त' पर ही विचार करना चाहिए, जिसका सार्त्र ने अपनी 'एल एत्रे एत ले नीयेन्त' (१९४३) शीर्षक पुस्तक में विस्तार से विवेचन किया है। इस पुस्तक में सार्त्र यह तर्क प्रस्तुत करता है कि लोगों के सब तरह के पारस्परिक सम्बन्ध संघर्ष के ही रूप में होते हैं। हम हमेशा एक-दूसरे से प्रतिद्वन्द्वियों के ही रूप में मिलते हैं और जब अपनी स्वतंत्रता की स्वीकृति के साथ दूसरों की स्वतंत्रता की स्वीकृति भी जुड़ी हो तो हम स्वयं को दूसरों के साथ एक स्तर पर स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं होते। सार्त्र यहाँ तक कहता है कि दूसरों की स्वतंत्रता के प्रति सम्मान महज एक खोखला और अर्थहीन शब्द है। सार्त्र कहता है: "या तो हम दूसरे पर विजयी होंगे, या दूसरे के द्वारा स्वयं को पराजित हो जाने

देंगे। विभिन्न चेतनाओं के बीच सम्बन्धों का प्रमुख तत्त्व सहयोग नहीं, संघर्ष ही होता है।"

●

ये विचार सार्त्र ने १९४३ में लिखी अपनी पुस्तक 'एल एत्रे एत ले नीयेन्त' में प्रस्तुत किये थे। इसके बाद सन् १९४५ में दिये 'एल एक्जिस्टेंशियलिज़्म एस्त अन ह्यूमैनिज़्म' शीर्षक अपने व्याख्यान में सार्त्र स्वयं ही अपने इन पूर्व-विचारों का स्पष्ट विरोध करता है। अपने इस दूसरे व्याख्यान में सार्त्र कहता है, कि केवल यही नहीं कि हम दूसरों की स्वतंत्रता का सम्मान कर सकते हैं, बल्कि हमें ऐसा करना ही चाहिये। "मैं अपनी स्वतंत्रता को उस समय तक अपना लक्ष्य नहीं बना सकता, जब तक कि मैं दूसरों की स्वतंत्रता को भी उतना ही अपना लक्ष्य नहीं बना लूं।" यही नहीं, सहकारिता की जिस धारणा को सार्त्र ने 'एल एत्रे एत ले नीयेन्त' में अस्वीकार कर दिया था, वह इस भाषण में उसे भी स्वीकार कर लेता है, और कहता है कि हमारी स्वतंत्रता एकान्त रूप से दूसरों की स्वतंत्रता पर निर्भर होती है, और दूसरों की स्वतंत्रता हमारी अपनी स्वतंत्रता पर।

परस्पर निर्भर रहनेवाली स्वतंत्रता की इस धारणा को सार्त्र अपने 'कमिटमेण्ट' (दायित्व स्वीकार करना) वाले सिद्धान्त से जोड़ता है और कहता है : "जहाँ एक बार किसी ने दायित्व स्वीकार करनेवाले सिद्धान्त को मान लिया, वह अपनी स्वतंत्रता के साथ-साथ दूसरों की स्वतंत्रता की कामना करने के लिए भी लाचार हो जाता है।" अपनी इस 'कमिटमेण्ट' वाली धारणा को स्पष्ट करते हुए सार्त्र कहता है कि, जब कोई मनुष्य अपने लिए चुनाव करता है, उसी समय वह सब मनुष्यों के लिए चुनाव कर लेता है, क्योंकि चुनाव करने का मतलब ही है कि वह अपनी चुनी हुई वस्तु पर मूल्य स्थापित करता है; और मूल्य स्थापित करते समय वह एक तरह से समूची मानवता के सम्मुख क्रियाशील होता है। इस प्रकार एक व्यक्ति अपने लिए जो मूल्य निर्धारित करता है, उसके लिए वह समूची मानवता के प्रति ज़िम्मेदार होता है। इस तरह सार्त्र इस दूसरी पुस्तक में अपने ही पूर्व-विचारों का विरोध करता है।

●

'ले चेमिन्स दे ला लिबर्ते' शीर्षक अपने अपूर्ण उपन्यास में सार्त्र दिखलाता है कि महायुद्ध के ठीक पूर्व, और दौरान में, विभिन्न प्रकार के मनुष्य स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए किस तरह विभिन्न प्रकार के प्रयत्न करते हैं। एक तटस्थ

रहकर स्वतंत्रता की खोज करता है, दूसरा साम्यवादी दल के प्रति भक्ति में स्वतंत्रता पाना चाहता है, तीसरा ऐन्द्रिय सुखों और संवेदनों में स्वतंत्रता उपलब्ध करना चाहता है, और इसी तरह अन्य लोग अन्य तरह से। लेकिन सफलता किसी को भी नहीं मिलती। उनके जीवन के ये सब रास्ते बंधनों के ही विविध रूप बताये गये है। इनके सब सम्बन्ध वही हैं जिनका विवेचन 'एल एत्रे एत ले नीयेन्त' में किया गया था। लेकिन इस अपूर्ण उपन्यास के चौथे भाग के अन्तिम दो अध्यायों में ब्रनेत और विकेरियो के बीच एक विचित्र प्रकार की 'होमोसेक्सुअल' मित्रता पायी जाती है। ये दोनों पारस्परिक स्नेह-बंधन में बँध जाते है, और एक साथ ही क़ैदखाने से भाग निकलते है; लेकिन जर्मन संतरियों की गोली का शिकार होकर विकेरियो अपने मित्र की गोद में दम तोड़ देता है। जब ब्रनेत अपने मरणोन्मुख मित्र के मिट्टी से सने गंदे बालों में अँगुलियाँ फँसाकर 'नितान्त व्यथा' से चीख उठता है कि उसके मित्र—उसके एकाकी मित्र—को नहीं मरना चाहिए, तो हम वहाँ परस्पर एकता की भावना पाते हैं, जिसका सार्त्र के 'संघर्ष' वाले सिद्धान्त से सीधा विरोध है।

इस तरह हम देखते हैं कि सार्त्र के इस उपन्यास के अपूर्ण छोड़ देने के पीछे दुहरा कारण है। पहला यह कि उसने स्वतंत्रता-प्राप्ति के कई ग़लत रास्तों की छानबीन की, लेकिन जब उनमें से एक भी सही नहीं निकला, तो उसने पुस्तक को वहीं छोड़ दिया। दूसरा यह कि 'एल एत्रे एत ले नीयेन्त' में प्रतिपादित मानवीय सम्बन्धों वाले अपने सिद्धान्त को जब उसने अपने इस उपन्यास में लागू होते नहीं पाया तो उसने इसे अधूरा छोड़ दिया। चार भागों वाले इस उपन्यास की असफलता के बाद सार्त्र ने किसी अन्य कथा-कृति में हाथ नहीं लगाया। निश्चय ही इसके बाद वह नाटक लिखता रहा है, ठीक उसी तरह जिस तरह मानवीय सम्बन्धों और व्यवहारों के सम्बन्ध में लिखना बन्द करके उसने राजनीति और समाज-शास्त्र के बारे में लिखना शुरू कर दिया था। नाटक एक सामाजिक संस्था होने के नाते राजनीतिक विचारों की अभिव्यक्ति के लिए उपन्यास की अपेक्षा अधिक सशक्त माध्यम है। 'होई क्लोस' के बाद सार्त्र ने जितने भी नाटक लिखे हैं वे सब राजनीतिक ही हैं। राजनीति—या समाजवाद कहना अधिक उपयुक्त होगा—उसकी चिन्ता का प्रमुख, बल्कि एकमात्र, विषय बन गया है। 'दायित्व-स्वीकृत साहित्य' से सार्त्र का तात्पर्य प्रारम्भ में उस साहित्य से था जो जीवन के प्रति एक ईमानदार नैतिक दृष्टिकोण के दायित्व-वहन को स्वीकार करता है। अस्तित्ववादी सिद्धान्त के

अनुसार इसका कोई दूसरा अर्थ हो भी नहीं सकता था, क्योंकि उसमें हर व्यक्ति अपने मूल्यों का निर्माता स्वयं ही होता है। लेकिन आज सार्त्र ने 'दायित्व-स्वीकृत साहित्य' वाले इस अपने ही सिद्धान्त का अर्थ बदल दिया है, और इसका अर्थ उस साहित्य से लगाता है, जो 'समाजवाद के प्रति अपने दायित्व' को स्वीकृत करता है, मानो और किसी प्रकार का दायित्व सच्चा हो ही नहीं सकता है।

विचित्र बात तो यह है कि सार्त्र के इस राजनीतिक मताग्रह के कारण उसके द्वारा किये जानेवाले साहित्यिक कृतियों के मूल्यांकन में भी फ़र्क आ गया है : इसका प्रमाण सार्त्र के दो समीक्षा-ग्रन्थ 'बॉदलेयर' (१९४७) और 'संत जेनेत' (१९५३) हैं। चूंकि जेनेत साम्यवादी विचारों का था, महज इसलिए सार्त्र उसकी प्रशंसा करता है, और बॉदलेयर अन्त में प्रतिक्रियावादी बन गया था महज इसलिए सार्त्र उसकी निन्दा करता है।

जो हो, सार्त्र के समाजवादी विचारों के लिए उसकी निन्दा करने की मेरी कोई इच्छा नहीं है : एक प्रसिद्ध लेखक के रूप में जन-साधारण की समस्याओं में आगे बढ़कर सहयोग देने की उसकी तत्परता, जन-सामान्य के हित के लिए उसकी चिन्ता, और अपने लक्ष्य के प्रति उसकी गंभीरता आदि उसकी ऐसी विशेषताएँ हैं, जिनके लिए वह हर व्यक्ति के सम्मान का अधिकारी है।

●

सन् १९६० में सार्त्र ने 'एल एत्रे एत ले नीयेन्त' से भी बड़ा एक दूसरा सैद्धान्तिक ग्रंथ लिखा, जिसका नाम 'क्रिटिक दे ला रीजन डायलेक्टिक' है। यह एक तरह से मानवता की सामूहिक 'एंथ्रोपोलोजी' है—एक नये प्रकार की साम्यवादी विचारधारा को प्रस्तुत करने का प्रयास, यानी अस्तित्ववाद से पुनरुज्जीवित किया गया साम्यवाद। इसमें कोई शक़ नहीं कि यहाँ सार्त्र अपने अस्तित्ववाद के ऊपर साम्यवाद को प्रधानता देता है। वह साम्यवाद की एक यथार्थ दर्शन के रूप में व्याख्या करता है—उसे एक ऐसी रचनात्मक पद्धति मानता है, जिसका वर्तमान के इतिहास पर अधिकार है। अस्तित्ववाद तो महज एक विचार-धारा है—एक ऐसी लघु पद्धति है, जो वास्तविक दार्शनिकों द्वारा निर्मित क्षेत्र का सिर्फ़ लाभ उठाती है। सार्त्र के अस्तित्ववाद की साम्यवाद को प्रमुख देन यह है कि इसने साम्यवाद को इसकी उन्नीसवीं शताब्दी वाली कट्टरता से मुक्त कर दिया है, और हमें एक ऐसा साम्यवाद दिया है, जो स्वतंत्र चुनाव की धारणा को स्वीकार करता है।

सार्त्र की इस पुस्तक के पहले भाग का शेष अंश (अभी तक पहला ही भाग प्रकाश में आया है) जन-साधारण के संबंधों के विवेचन से संबंधित है। यहाँ हम सार्त्र को पुनः अपने सैद्धांतिक ग्रंथ 'एल एत्रे एत ले नीयेन्त' के विचारों के विरोध में जाते हुए पाते हैं। अब सार्त्र संघर्ष को मानवीय संबंधों की एक मूलभूत विशेषता नहीं मानता। सार्त्र यह तो अब भी मानता है कि मनुष्य में संघर्ष का अस्तित्व है, लेकिन उसका कहना है कि इसका एकमात्र कारण अभाव है : दुनिया में रोटी और अन्य पदार्थों की कमी ही मनुष्य-मनुष्य के बीच संघर्ष का कारण है। इसी से मनुष्य की हिंसा बोधगम्य हो जाती है, और विवेकपूर्ण भी। इसी तरह सार्त्र अब हाब्स, फ्रायड और 'एल एत्रे एत ले नीयेन्त' में प्रतिपादित अपने ही विचारों का विरोध करता है कि प्रकृति या अस्तित्व के भीतर उपस्थित आक्रमणात्मक विचारों से संघर्ष उत्पन्न होता है। यह अनिश्चित और ला-इलाज स्थिति नहीं है; अभाव दूर कर दो तो यह संघर्ष अपने-आप दूर हो जायेगा। जैसा कि सार्त्र स्वयं कहता है, 'क्रिटिक' के इस पहले भाग का कार्य तो इस 'एन्थ्रोपोलोजी' की इमारत के लिए महज नींव की व्यवस्था करना है; वह वायदा करता है कि दूसरा भाग यह बतायेगा कि मानव-इतिहास एक है और उसका एक ही बोधगम्य सत्य है।

●

एक समय था जब सार्त्र ने सिद्धांत और व्यवहार दोनों में एक स्वतंत्र साम्यवादी बनने की चेष्टा की थी। स्वतंत्र समाजवादी विचारों की अभिव्यक्ति के एक मंच के रूप में सार्त्र ने सन् १९४६ में 'ले टेम्प्स माडर्न्स' शीर्षक एक पत्रिका चालू की थी। यहाँ तक कि १९४८ में तो उसने 'रीअसेम्बलमेंट डेमोक्रेटिक रिवोल्यूशनेयर' नामक एक राजनीतिक पार्टी की भी स्थापना कर दी थी। बौद्धिक वर्ग के कुछ व्यक्तियों ने इसमें सार्त्र का साथ भी दिया, लेकिन मज़दूरों ने तनिक भी साथ नहीं दिया; इसलिए कुछ समय बाद यह खत्म हो गयी।

इस पार्टी की मृत्यु से सार्त्र ने एक शिक्षा यह ली कि उसे अब आगे से कम्युनिष्ट पार्टी के साथ सहयोग करना चाहिए; और तब से बिना उनकी क़तार में खड़े हुए भी सार्त्र अपने इस निश्चय को निभाता आया है। परिणाम यह हुआ कि उसके जिन समाजवादी बौद्धिक मित्रों ने 'ले टेम्प्स माडर्न्स' की स्थापना में सहयोग दिया था, वे सब उससे अलग हो गये। इन्हीं में उसके दो निकटतम मित्र अलबेयर कामू और मौरियस मेरल्यू-पौन्ती भी थे।

●

सार्त्र ने युद्ध के बाद के अपने सबसे लम्बे और सर्वश्रेष्ठ नाटक 'ले डायबेल एत लेबोनड्यू' में 'मानवतावाद की राजनीति' का प्रतिपादन किया है। इसमें सार्त्र यह तर्क प्रस्तुत करता है कि मानवतावाद की राजनीति को अहिंसा की नैतिकता का त्याग करना होगा, क्योंकि यह धर्म की और चिन्तन की राजनीति है, जब कि मानवतावाद की राजनीति इसी दुनिया की राजनीति है, और चूँकि यह दुनिया बुराई में गहरे तक डूबी हुई है (जो कि सार्त्र के मतानुसार भौतिक पदार्थों के अभाव का परिणाम है), इसे कब्ज़े में लाने के लिए, उसका विचार है कि हमें निष्ठुर होना पड़ेगा, हमें अपने हाथों को अपराध में सानना होगा।

यही सार्त्र की प्रमुख कमज़ोरी है कि उसमें एक संतुलित दृष्टि का सदा अभाव रहा है। कुछ परिस्थितियों में अपराध में हाथ सानने वाले इस सिद्धांत की पुष्टि करता हुआ सार्त्र अपने इस सिद्धांत को राजनीति की दलदल में घसीट ले जाता है और कैस्ट्रो, ख्रुश्चेव तथा साम्राज्यवादियों के अन्य शत्रुओं द्वारा किये गये हर क़िस्म के खून-खराबे का आँख बन्द करके समर्थन करता चलता है। सार्त्र का यह मताग्रह अक्सर ही उसके उचित निर्णय पर हावी हो जाता है। इसके अतिरिक्त कला के माध्यम से मुक्ति प्राप्त करने की धारणा के प्रति उसके अत्यधिक मोह ने भी उसकी कृतियों के साहित्यिक महत्त्व को घटाया ही है। यही कारण है कि उसका लगभग समूचा सर्वश्रेष्ठ कृतित्व उसके जीवन के प्रारंभिक वर्षों में रचा गया था जब उसके भीतर का रचनात्मक कलाकार उसके सैद्धांतिक और मताग्रही व्यक्ति से अधिक सशक्त और क्रियाशील था।

मायकोवस्की की मृत्यु पर

बोरिस पास्तरनाक

●

जन्म १८९०, मास्को में। परिवार में शिक्षित, सुसंस्कृत और कलात्मक वातावरण : पिता एक प्रसिद्ध चित्रकार थे, माँ संगीतज्ञ।

प्रारंभ में संगीत की शिक्षा लेने के लिए पास्तरनाक ने मास्को की एक संगीतशाला में दाखिला लिया, और उसके बाद कानून पढ़ने के लिए मास्को विश्वविद्यालय में। लेकिन दार्शनिक विचारों में उनकी रुचि इस क़दर बढ़ गयी कि अन्ततः उन्होंने संगीत और क़ानून दोनों छोड़ दिये और हरमन कोहेन के अन्तर्गत दर्शनशास्त्र के उच्च अध्ययन के लिए जर्मनी चले गये। १९१४ में उनका पहला कविता-संग्रह 'ट्विन इन द क्लाउड्स' प्रकाशित हुआ।

प्रथम महायुद्ध के दिनों में पास्तरनाक यूराल्स के एक कारख़ाने में काम करने चले गये; यहीं १९१६ में उन्होंने अपना दूसरा कविता-संग्रह 'ओवर द बेरियर्स' समाप्त किया, और फिर १९१७ में तीसरे संग्रह 'माइ सिस्टर, लाइफ़' की अधिकांश कविताएँ लिखीं जो वस्तुतः प्रकाशित १९२२ में हुआ। रूसी क्रान्ति के तत्काल बाद पास्तरनाक मास्को लौट आये, और १९२२ से १९३२ के बीच में उनके और भी कई कविता-संग्रह प्रकाशित हुए। सच तो यह है कि पास्तरनाक को कभी 'रूस का सर्वश्रेष्ठ जीवित कवि' कहा जाता था।

सन् १९२२ से १९३२ के बीच में पास्तरनाक की दो गद्य-कृतियाँ भी प्रकाशित हुईं जिनमें से 'एरियल वेज' शीर्षक एक कहानी-संग्रह था, और दूसरी 'सेफ़ कण्डक्ट' शीर्षक एक संक्षिप्त आत्मकथा।

इसके बाद क़रीब दो दशाब्दियों से भी अधिक समय तक, पास्तरनाक ने मौलिक चीज़ें नहीं के बराबर लिखीं और अपना पूरा समय अनुवाद-कार्य में लगाया, और विदेशी लेखकों की बहुत-सी विख्यात कृतियों के असाधारण रूप से सुन्दर अनुवाद रूसी भाषा में प्रकाशित किये। शेक्सपीयर के 'हैमलेट', 'आथेलो', 'एण्टोनी और क्लिओपेट्रा,' 'रोमिओ एण्ड जूलियट' शीर्षक नाटकों के अनुवाद; गेटे, क्लेइस्ट, हार्वे और जर्मन अभिव्यंजनावादियों की कृतियों के अनुवाद; तथा वर्लेन, बेन जान्सन, स्विनबर्न, शैली तथा अन्य

अँग्रेज रोमाण्टिक कवियों के अनुवाद विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त सोवियत संघ की अन्य सैकड़ों बोलियों से किये गये अनुवाद—जैसे कि जार्जिया के गीतकारों के—तो बेहद लोकप्रिय हुए हैं।

पिछले दिनों पास्तरनाक के दो उपन्यास प्रकाशित हुए हैं : 'द लास्ट समर' और 'डाक्टर जिवागो'। जब 'डाक्टर जिवागो' पर १९५८ का साहित्यिक नोबेल पुरस्कार घोषित किया गया, और पास्तरनाक ने उसे लेने से अस्वीकार कर दिया, तो तत्काल यह उपन्यास संसार-भर के साहित्यिक हलक़ों में चर्चा और वाद-विवाद का केन्द्र बन गया।

प्रस्तुत अंश पास्तरनाक की आत्मकथात्मक कृति 'सेफ़ कण्डक्ट' के अन्तिम अध्याय से लिया गया है, जिसमें उनके मित्र मायकोवस्की की आत्महत्या के प्रसंग का ज़िक्र है।

अप्रैल के आरम्भ में, शीत और श्वेत बर्फ़ के पुनः लौट आने की जड़ता ने मास्को को आश्चर्य में डाल दिया। सात तारीख़ को बर्फ़ फिर पिघलनी शुरू हो गयी, और चौदह को जब मायकोवस्की ने आत्महत्या की, उस दिन तक मास्कोवासी वसंत की नवीनता से पूरी तरह परिचित भी नहीं हो पाये थे।

ज्योंही मैंने इस दुर्घटना की बात सुनी, मैंने ओ० एस० को वहाँ बुलाया। मुझे कुछ ऐसा लगा कि इस धक्के से उसके अपने दुःख को भी बाहर निकलने का मौक़ा मिलेगा।

ग्यारह-बारह बजे तक भी इस आत्महत्या के चतुर्दिक लहरें चक्कर लगा ही रही थीं। इस ख़बर ने टेलीफ़ोनों को कँपा दिया, चेहरों को ज़र्द कर दिया, और हर सुनने वाले को मजबूर कर दिया कि वह तत्काल लुब्यान्स्कोय पथ की ओर दौड़ पड़े और अहाता पार करके उस घर की ओर बढ़े जहाँ ज़ीना लोगों से ठसाठस भरा हुआ था—ऐसे लोगों से जो रो रहे थे और गिर जाने से बचने के लिए एक-दूसरे का सहारा ले रहे थे; इस विनाशकारी दुर्घटना से अभिभूत होकर दीवारों से टकरा रहे थे। चेर्नाक और रोमादिन, जिन्होंने सबसे पहले मुझे इस दुर्घटना की ख़बर दी थी, मेरे पास आये। ज़ेनिया (मेरी पत्नी) उनके साथ थी। ज्योंही उस पर मेरी दृष्टि पड़ी, मेरे गालों में ऐंठन-सी होने लगी। उसने रोते-रोते मुझसे ऊपर जाने के लिए कहा, लेकिन उसी समय स्ट्रेचर पर लेटी हुई और कपड़े से पूरी तरह ढँकी हुई मायकोवस्की की देह नीचे लायी गयी। हर व्यक्ति दौड़ता हुआ नीचे आ रहा था, और दरवाज़ा इस बुरी तरह रुक गया

था, कि जब हम लोग धकेलकर रास्ता बनाते हुए बाहर निकले, तो हमें एम्बुलेंस मुख्य द्वार से बाहर जाती दिखाई दी। हम लोग भी उसके पीछे-पीछे चले।

मुख्य द्वार के बाहर जीवन अपनी सदा की तरह चल रहा था—असम्पृक्त जीवन, जैसा कि इसे ग़लती से कहा जाता है।

चिकने दलदली रास्तों पर वासंती हवा इस तरह कमज़ोर पैरों से धीरे-धीरे चल रही थी गोया चलना सीख रही हो। दूर से आती आवाजें वहाँ बच्चों और मुर्गों की उपस्थिति की सूचना दे रही थीं। बसंत के प्रारंभ में, कस्बे के कोलाहल के बावजूद, ये आवाज़ें आश्चर्यजनक रूप से दूर-दूर तक पहुँच जाती है।

स्विवाया चढ़ाई पर ट्राम बहुत आहिस्ते-आहिस्ते हाँफती हुई-सी चढ़ रही थी। रास्ते में एक ऐसी जगह आती है जहाँ पहले दायीं ओर का सड़क-किनारे का फुटपाथ और फिर बायीं ओर का फुटपाथ ट्राम की खिड़कियों के इतना नज़दीक आ जाता है कि आप पट्टे को पकड़े-पकड़े ही मास्को के ऊपर ज़बरन झुक-से जाते हैं, और फिसलकर गिर पड़नेवाली एक बूढ़ी औरत की तरह पसरा हुआ मास्को आपको दिखाई देता है; इसके बाद ट्राम समतल पर उतर आती है और अरुचिकर सड़कों के बीच से गुज़रने लगती है।

कस्बे की गतिविधियाँ मृत व्यक्ति के जीवन से इतनी अधिक समान थीं, यानी उसके महत्त्वपूर्ण अस्तित्व का कुछ इतने तीखेपन से याद दिलाती थीं कि मेरी समूची देह सिहर उठी, और 'दि क्लाउड' की प्रसिद्ध टेलीफ़ोन वाली बात अपनी स्वेच्छा से मेरे भीतर जोर से गूँज उठी, मानो मेरे बग़ल में खड़ा कोई व्यक्ति उसे चीख़-चीख़कर कह रहा हो। मैं एम० के पास प्लैटफार्म पर खड़ा हुआ था—उसे उन आठ पंक्तियों की याद दिलाने के लिए मैं उसकी ओर झुका, मगर.... "मुझे महसूस होता है कि मेरा 'मैं' मेरे लिए बहुत छोटा है".... ने मेरे होठों को परस्पर इस तरह चिपका दिया जिस तरह कि दस्ताने के भीतर अँगुलियाँ चिपक जाती हैं, और मैं इतना अधिक द्रवीभूत हो गया कि मेरे मुँह से एक शब्द भी नहीं निकल सका।

हैण्ड्रीकोव अश्वशाला के अन्तिम कोने के पास दो ख़ाली कारें खड़ी थीं जिनके आस-पास जिज्ञासुओं की भीड़ थी।

हॉल में और खाने के कमरे में, टोपी ओढ़े और बिना ओढ़े हुए, लोग बैठे या खड़े थे। उसकी देह उसके पढ़ने के कमरे में रखी थी। हॉल से लीत्या के कमरे में जाने वाला दरवाज़ा खुला हुआ था, और दहलीज़ की चौखट पर एक हाथ रखे आसेयेव बिलख-बिलखकर रो रहा था। कमरे के भीतर खिड़की के पास खड़ा

हुआ किरसानोव कंधों के बीच अपना सिर गड़ाये हुए ख़ामोश सुबकियों से काँप रहा था।

दुःख के इस भारी और भीगे कुहरे के बीच-बीच में, धीमी आवाज़ में, चिन्ताकुल वार्तालाप भी चल रहा था। फुसफुसाकर निकलने वाले शब्द इतने सूखे थे कि लगता था, वे फ़र्श के नीचे से आ रहे हों, और उनमें मरे हुए चूहों की गंध हो। वार्तालाप के ऐसे ही एक अन्तराल में दरबान सावधानी से कमरे में दाख़िल हुआ, उसने जाड़े के फ्रेम को हटाया और आहिस्ते से, बिना किसी तरह की आवाज़ किये, खिड़कियाँ खोल दीं। बाहर इस समय भी एक कोट की ठंड थी, और बच्चे तथा गौरैये अपनी उद्देश्यहीन कचर-पचर से परस्पर प्रतिद्वन्द्विता कर रहे थे।

मृत व्यक्ति के पास से चलकर एक व्यक्ति पंजों के बल आया, और धीमी आवाज़ में पूछने लगा कि लीत्या को तार भेज दिया गया है या नहीं। एल० ए० जी० ने उत्तर दिया कि भेज दिया गया है। जेनिया मुझे एक ओर ले गयी और उसने बताया कि एल० ए० जी० इस दुर्घटना के भयानक बोझ को किस साहस के साथ सहन कर रहा है। वह रोने लगी। मैंने ज़ोर से उसका हाथ दबाया।

बाहर के सीमाहीन जगत् की स्पष्ट असम्पृक्तता खिड़की के रास्ते कमरे में उमड़ी आ रही थी। दूर पर एक सीधी क़तार में भूरे पेड़ खड़े हुए उस सरहद की रक्षा करते-से लग रहे थे जो पृथ्वी और समुद्र को अलग कर रही थी। उन पेड़ों की ताज़ा निकली हुई पत्तियों और कलियों की ओर मैंने ताका, और पेड़ो के उस पार, दूर, बहुत दूर उस लन्दन की कल्पना करने की कोशिश की जहाँ तार भेजा गया था। शीघ्र ही वहाँ पर कोई चीख़-चीख़कर रोएगी, हमारी ओर अपने हाथ फैलाएगी, और बेहोश होकर ज़मीन पर गिर पड़ेगी। मेरा गला रुँध गया। मैंने निश्चय किया कि एक बार फिर उसके कमरे में जाऊँ और जी भरकर रोऊँ।

वह करवट के बल लेटा हुआ था; उसका चेहरा दीवार की ओर था; उसकी लम्बी देह ठोढ़ी तक चद्दर से ढकी हुई थी, और उसका मुंह आधा खुला हुआ था मानों वह नींद में सो रहा हो। इस चिर-निद्रा में भी, इस तरह लेटा हुआ भी वह हम सबसे मुँह मोड़े हुए था, और अपने इस दृढ़ रुख़ के द्वारा जतलाना चाहता था कि हमसे दूर कहीं और चला जा रहा हो।

अकस्मात् हॉल की ख़ामोशी को किसी ने छूकर जगा दिया। उसकी माँ और बहन तो अब तक भीड़ में खड़ी भीतर-ही-भीतर निःशब्द रो रही थीं; लेकिन अब अचानक मृत व्यक्ति की छोटी बहन ओल्गा व्लाडीमिरोव्ना अकेली उस फ्लैट में दाख़िल हुई। वह बहुत बदहवास थी और ज़ोर-ज़ोर से रो रही थी। कमरे

में उसके पहले उसकी तैरती हुई आवाज़ प्रविष्ट हुई। ज़ीने पर चढ़ती हुई वह किसी से इस तरह ऊँची आवाज़ में कह रही थी, गोया अपने भाई से ही बात कर रही हो। तब वह स्वयं दिखाई दी और भीड़ में इस तरह चलती हुई, मानो कोई कूड़े-कचरे का ढेर हो, अपने भाई के कमरे के दरवाज़े पर पहुँचकर उसने अपने दोनों हाथ फैला दिये और स्थिर-स्तब्ध खड़ी हो गयी। "वोलोद्या!" वह ऐसी आवाज़ में चीखी जिसकी गूँज समूचे घर में फैल गयी। एक क्षण गुज़र गया। "वह कुछ बोलता नहीं! जवाब नहीं देता। वोलोद्या! वोलोद्या! हे ईश्वर!"

वह गिरने लगी। उन्होंने उसे गिरते हुए थाम लिया और जल्दी-जल्दी होश में लाने की कोशिश करने लगे। अभी वह पूरी तरह होश में आई भी नहीं थी कि मृत देह की ओर चुम्बक से खिंची हुई-सी बढ़ी, उसके पैरों के पास बैठ गयी, और उसने अपना करुण अथक वार्त्तालाप पुनः शुरू कर दिया। आख़िर-कार, जैसा कि मैं बहुत समय से चाह रहा था, मेरे आँसू फूट पड़े।

वह सुबकियों के बीच में उच्च स्वर में बोलती भी जा रही थी। आख़िर उसने स्वयं पर नियंत्रण किया और अपने भाई के थोड़ा और निकट खिसक आयी। "क्या तुम्हें याद है, वोलोदिचका, क्या तुम्हें याद है?" वह इस तरह उससे पूछ रही थी गोया वह अभी ज़िन्दा हो, और तब अपने मृत भाई द्वारा इक्कीस वर्ष की उम्र में लिखित 'क्लाउड इन ट्राउजर्स' की निम्न पंक्तियों को धीरे-धीरे गुनगुनाने लगी :

"मैं महसूस करता हूँ कि
मेरा 'मैं' मेरे लिए बहुत छोटा है।
कोई है जो मेरे भीतर से हठपूर्वक टूटकर बाहर आ रहा है।
हलो!
कौन? माँ?

माँ! तुम्हारे बेटे को अद्भुत बीमारी है।
माँ! उसका हृदय आग की लपटों पर है।
उसकी ल्युदिया और ओल्या बहनों से कह दो,
उसे कहीं भी तो जाने की जगह नहीं है।"

तीन पीढ़ियों के तीन शोक-गीत

ईलियट, ऑडेन, टॉमस

●

बीसवीं सदी की आधुनिक अंग्रेज़ी कविता के विगत तीन दशकों की तीन पीढ़ियों के तीन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कवि हैं—टी० एस० ईलियट, डब्लू० एच० ऑडेन और डायलन टॉमस। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इस दृष्टि से कि इन काव्य-महारथियों ने न केवल महान् काव्य की रचना ही की, वरन् अपने लिए स्वयं नये रास्ते भी बनाये·····चली आती हुई काव्य-परम्परा की लीक पर चलना इन्होंने स्वीकार नहीं किया, उसे नयी दिशाएँ दीं।

मोटे रूप में, १९२० से '३० के बीच के दशक को हम ईलियट का दशक कह सकते हैं। द वेस्टलैण्ड (१९२२), द हॉलो मेन(१९२५) और ऐश वेन्सडे(१९३०) जैसी असाधारण रूप से प्रभावशाली काव्य-कृतियाँ इसी दशक की उपज हैं, जिन्होंने तत्कालीन काव्य-जगत में उथल-पुथल मचा दी थी। १९३० से '४० के बीच का दशक ऑडेन का दशक है, जिसमें उनकी कविताओं के कई संग्रह सामने आये। ईलियट ने हमारी सभ्यता, हमारी संस्कृति और हमारे जीवन को निराशा, कुण्ठा और मृत्यु की अँधेरी घाटियों में धकेल दिया था; उससे उबार कर हमें सामाजिक यथार्थ के ठोस और प्रकाशमय धरातल पर लाने का श्रेय सहज ही ऑडेन को दिया जा सकता है। १९४० के बाद ऑडेन अमेरिका चले गये। १९४० से '५० के बीच का दशक डायलन टॉमस का दशक है। सही मायनों में, अँग्रेजी कविता में हम केवल टॉमस को ही 'सर-रीयलिस्ट' धारा का कवि कह सकते हैं। १९५३ में टॉमस की मृत्यु हो गयी। १९५० के बाद की प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति को 'एंग्री यंगमैन' की संज्ञा दी गयी है, लेकिन ये मूलतः कथाकार हैं; जो कवि हैं भी उनमें कोई एक ऐसा 'आउटस्टैण्डिंग' व्यक्तित्व नहीं कि उसे क़तार से अलग खड़ा किया जा सके।

इन तीन कवियों की कविताओं का चुनाव करते समय मैंने जान-बूझकर वही तीन कविताएँ चुनी हैं, जिनमें विषय की समानता हो। यह इसलिए कि एक ही विषय के प्रति इनका अलग-अलग 'एप्रोच' समझा जा सके।

प्रस्तुत तीनों शोक-गीत अपने मूलरूप में अपेक्षाकृत अधिक लम्बे हैं। यहाँ उनके कुछ विशेष अंशों का ही रूपान्तर प्रस्तुत किया जा रहा है। लेकिन प्रयत्न किया गया है कि यथासंभव कविता का मूल भाव और 'इमेजेरी' इन अंशों में अवश्य आ जाये।

समूची मानवता की मृत्यु पर

टी० एस० ईलियट

●

हम सब खोखले इन्सान है
हमारे शरीरों में भूसा भरा हुआ है
हम एक साथ एक क़तार में झुके हुए खड़े हैं
अफ़सोस ! हमारी खोपड़ियों में भी भूसा भरा हुआ है !
जब हम परस्पर बातें करते है--
हमारी सूखी आवाज़ें स्थिर और अर्थहीन होती है
जैसी कि सूखी घास में चलती हुई हवा,
या हमारे शराब के सूखे तहखानों में
टूटे काँचों पर दौड़ते हुए चूहों के पैर ।

आकार है, आकृति नहीं
रंगाभास है, रंग नहीं,
ऐसी शक्ति जिसे लकवा मार गया हो
हावभाव है, गति नहीं;

वे जो मौत की देहरी को लाँघकर
दूसरी दुनिया में चले गये हैं
हमें याद करते है--अगर करते भी है तो--
विनष्ट तेजवान आत्माओं की तरह नहीं; केवल
खोखले इन्सानों के रूप में
भूसा भरे हुए इन्सानों के रूप में ।

यह मुर्दा देश है
यह कैक्टस का देश है
यहाँ पत्थर की प्रतिमाएँ स्थापित की जाती है
और धुँधलाते सितारे की झिलमिलाहट के नीचे
मुर्दा इन्सानों के हाथों उनकी आरती उतारी जाती है !

इसी प्रकार इस दुनिया का नाश होता है
इसी प्रकार इस दुनिया का नाश होता है
इसी प्रकार इस दुनिया का नाश होता है
धमाके के साथ नहीं, चिचियाते हुए !

('द हॉलो मेन' से)

डब्लू० बी० यीट्स की मृत्यु पर

डब्लू० एच० ऑडेन

●

ठंड से ठिठुरते दिनों में उसने विदा ले ली।
नदी-नाले सब जमे हुए थे
हवाई-अड्डे तक़रीबन उजाड़-से थे
बर्फ ने रास्ते में खड़ी प्रस्तर-प्रतिमाओं के आकार बिगाड़ दिये थे,
मर्करी का पारा मरणोन्मुख दिन के मुख-गह्वर में गहरा उतर गया था
हमारे जितने साधन है सब एक स्वर से सहमत है
कि
उसकी मौत का दिन एक ठंडा अँधेरा दिन था !

अब वह सैकड़ों नगरों में फैल गया है,
अपरिचित स्नेह-संबंधों को पूर्णतः सौंप दिया गया है :
दूसरे प्रकार के देशों में अपना आनन्द पाने के लिए
विदेशी धर्म-संहिताओं के विवेक के अनुसार दंडित होने के लिए।
एक मरे हुए व्यक्ति के शब्द
ज़िन्दों की आँतों में सुधारे जायेंगे !

धरती ! अपनी गोद में एक सम्मान्य अतिथि को स्वीकार करो
विलियम यीट्स चिर-निद्रा में सो गया है;
अब आयरिश जहाज़ बिना कविता के
यों ही खाली पड़ा रहेगा।

अँधेरे के दुःस्वप्न में
यूरोप के सारे कुत्ते भौंक रहे हैं
और घृणा की दीवाल से पृथक राष्ट्र
एक-दूसरे को दबोचने की ताक़ में लगे हैं।

हर व्यक्ति के चेहरे पर
बौद्धिक कलंक झलक रहा है,
और हर आँख में करुणा का सागर
जमकर ताले के भीतर बन्द है।

('इन मेमोरी आफ डब्लू० बी० यीट्स' से)

सर जॉन की पहाड़ी पर

डायलन टॉमस

●

सर जॉन की पहाड़ी पर
आग की लपटों की डोर में बँधा हुआ एक बाज़;
धुँधलाती संझा
पहाड़ी के ऊपर एक बादल तना है शामियाने की तरह।
बाज़ अपने पंजों और पंखों से ऊपर-नीचे देखता है
उसकी तेज़ नज़र की चपेट में आते हैं उसके शिकार :
जल पर फुदकती सामुद्रिक चिड़ियाँ
धुँधलाती झाड़ियों में परस्पर क्रीड़ा करते गौरैयों के बच्चे
सब जलती हुई पहाड़ी की ओर देखकर खुशी से चीख रहे हैं

चीखते रहते हैं तब तक जब तक कि
नुकीली चोंचवाला बाज़ अपने पंखों को
पहाड़ी की आग में ज़ोर से दे नहीं मारता !
और तभी
मछलियों की ताक़ में खड़ा भक्त बगुला
तावी नदी के आँसुओं के जल में धीरे से
अपनी लम्बी चोंच डुबो देता है।

फिर वही तेज़ आवाज़, और पंख फट जाते हैं
सर जॉन की पहाड़ी का शिखर
कौवों की काली टोपी ओढ़ लेता है;
और एक बार फिर
झाड़ियों में चहचहाती हुई चिड़ियाँ
आगवाले बाज़ की ओर देखकर चीखती हैं
जहाँ हवा के तेज़ झोंके चल रहे हैं।

चिकने पत्थरों से भरे हुए
नदी के उथले और काई-सेवार से दलदली जल में
अपनी चोंचें मारतीं और फुदकती हुई सामुद्रिक चिड़ियाँ
'डिली डिली' पुकारती हैं
गोया पहाड़ी की आग पर टँगे बाज़ को
पुकारकर कहती हों :
"आओ और मौत को वरो !"

('ओवर सर जॉन्स हिल' से)

एक मरणोन्मुखी जापानी कथाकार का मृत्युलेख

ओसामू देज़ाई

●

ओसामू देज़ाई का जन्म सन् १९०९ में उत्तरी जापान के एक शक्तिशाली ज़मींदार घराने में हुआ था। देज़ाई ने १९३० में टोकियो विश्वविद्यालय के फ्रान्सीसी विभाग में दाखिला लिया, और वे एक तेजस्वी छात्र के रूप में सर्वमान्य भी थे; लेकिन उन्होंने बिना उपाधि लिये ही १९३५ में स्वेच्छा से विश्वविद्यालय छोड़ दिया। बाद में वे गर्व से कहा करते थे कि इन पाँच वर्षों की अवधि में वे एक भी व्याख्यान में उपस्थित नहीं रहे थे। इसके बजाय, उन्होंने अपना यह पूरा समय साहित्यिक और वामपंथी राजनीतिक गतिविधियों में व्यतीत किया था।

उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में भी नवीनता और विशिष्टता की छाप थी, लेकिन वस्तुतः द्वितीय महायुद्ध के बाद उनकी वास्तविक साहित्यिक शक्ति का पता लगा, जब उन्होंने 'ह्विलन्स वाइफ़' और 'द सेटिंग सन' की रचना की। १९४७ में प्रकाशित 'द सेटिंग सन' ने तो तत्काल जापान के साहित्यिक हलक़ों में हलचल मचा दी। इस उपन्यास की लगभग हर घटना और परिस्थिति में मौत की छाया मँडराती नज़र आती है। द्वितीय महायुद्ध ने जापान को ग़रीबी, चीजों की महँगाई और अनास्था के एक भयानक गह्वर में ढकेल दिया था, जापान की प्राचीन सामन्तवादी समाज-व्यवस्था टूट गई थी, और जापान के बुद्धि-जीवि अपनी जड़ों से उखड़ गये थे,···इन्हीं सब स्थितियों का इस उपन्यास में इतना शक्तिशाली चित्रण हुआ है कि जो जापान 'उगते सूरज का देश' कहलाता था उसीके निवासियों के लिए 'डूबते सूरज के लोग'का उपयोग होने लगा और न केवल यह सामान्य बोलचाल में ही प्रचलित हो गया वरन् शब्दकोषों में भी शामिल किया जाने लगा।

जापानी रिम्बो के नाम से विख्यात देज़ाई ने अपनी क्षयग्रस्त देह को टोकियो के तामागावा कुण्ड के उबलते जल में डुबोकर आत्महत्या कर ली थी। १९ जून १९४८ को जिस दिन उनकी मृत-देह पायी गयी वह उनका ३९वाँ जन्म-दिन होने वाला था।

प्रस्तुत अंश देज़ाई के इसी प्रसिद्ध उपन्यास 'द सेटिंग सन' के 'टेस्टामेण्ट' शीर्षक अध्याय से लिया गया है। उपन्यास का नायक नाओजी, आत्महत्या के ठीक पहले, अपनी बहिन काज़ुको को सम्बोधित करते हुए यह मृत्युलेख लिखता है, जिसमें मृत्यु और

आत्महत्या जैसी महत्त्वपूर्ण समस्याओं और द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप तत्कालीन जापान में होनेवाले परिवर्तनों तथा सामन्तवादी ढाँचे के टूटने-बिखरने की बात कही गयी है।

काजुको !

व्यर्थ है। मैं जा रहा हूँ।

अब और अधिक जीवित रहने का मुझे कोई कारण दिखाई नहीं देता।

जो जीना चाहते हैं, केवल उन्हें ही जीवित रहना चाहिए।

जिस तरह एक व्यक्ति को जीने का अधिकार है, उसी तरह उसको मरने का भी अधिकार होना चाहिए।

जो जीवित रहना चाहते हैं, वे आखिर जीवित रह ही सकते हैं, चाहे उनके रास्ते में कितनी ही तरह की बाधाएँ क्यों न आएँ। इसी में उनकी शोभा है, बल्कि मैं तो यहाँ तक कहने को प्रस्तुत हूँ कि जिसे लोग 'मानवता की महानता' कहते हैं, वह इसी में निहित है; लेकिन मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि मरना भी अपने-आपमें कोई पाप नहीं है।

जब मैं हाई स्कूल में भरती हुआ तो पहली बार कुछ उद्धत क़िस्म के ऐसे लड़कों के सम्पर्क में आया, जो मुझसे नितान्त भिन्न वर्ग के थे। उनकी शक्ति के सामने कहीं मैं झुक न जाऊँ, इसके लिए मैंने मादक द्रव्यों का सहारा लिया। कुछ-कुछ उन्माद की-सी स्थिति में मैंने उनका सामना किया। बाद में, जब मैं सेना में भर्ती हो गया, तो जीवित रहने के अन्तिम उपाय के रूप में मैंने अफीम की शरण ली। उन दिनों जिस तरह की स्थिति से मैं गुज़रा हूँ, तुम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकती।

मैं रूखा और कठोर—बल्कि, पाशविक बनना चाहता था। मेरा ख़याल था कि स्वयं को 'जनता का मित्र' साबित करने के लिए यही एकमात्र तरीक़ा है। मात्र शराब इसके लिए पर्याप्त नहीं थी। हरदम एक भयानक क़िस्म का प्रमाद मेरे ऊपर सवार रहता था। यही कारण है कि मादक द्रव्यों की शरण में जाने के अलावा और कोई चारा ही नहीं था। मुझे अपने परिवार को भुला देना पड़ा। अपने पैत्रिक रक्त का विरोध करना पड़ा। अपनी माँ की भल-मनसी को अस्वीकारना पड़ा। अपनी बहिन के प्रति रूखा होना पड़ा। मेरा

ख़याल था कि जनता की जमात में शामिल होने के लिए, इनके अलावा और कोई रास्ता नहीं था।

मैं रुक्ष और अशिष्ट बन गया। मैंने रुक्ष भाषा का प्रयोग करना सीख लिया। लेकिन मेरा यह रुख़ आधा ही नहीं, साठ प्रतिशत ओढ़ा हुआ और बनावटी था। जहाँ तक सामान्य लोगों का प्रश्न है, उनके लिए मैं अब भी वही दम्भी क़िस्म का इन्सान था, जिसके कृत्रिम व्यवहार के कारण वे आसानी से भड़क उठते थे। वे कभी भी मेरे साथ सहज रूप से हिल-मिल नहीं पाते थे। दूसरी ओर, अपने वर्ग की जिन जगहों और हलक़ों को मैं छोड़ आया था, उनमें वापस लौट जाना मेरे लिए असंभव था। अगर यह मान भी लें कि मेरी साठ प्रतिशत रुक्षता और अशिष्टता बनावटी थी, तो भी शेष चालीस प्रतिशत अब वास्तविक है। उच्चवर्गीय लोगों की असहनीय शिष्टता को मैं अब क्षण भर के लिए भी सहन नहीं कर पाता हूँ। साथ ही, यह भी सच है कि उस वर्ग के प्रतिष्ठित और नामी भद्र लोग भी मेरे उद्धत और अशिष्ट व्यवहार को पसन्द नहीं करेंगे, और जल्दी ही मुझसे किनाराकशी करने लगेंगे। जिस दुनिया को मैं छोड़ चुका हूँ, अब वापस उसमें लौट नहीं सकता; और सामान्य लोगों से मुझे जो कुछ मिला है, वह महज दर्शकों की गैलरी में बैठने का अधिकार है।

सच तो यह है कि किसी भी समाज में मेरे जैसे अपूर्ण क़िस्म के व्यक्तियों का नाश होना अवश्यंभावी है; वे जो कुछ सोचते हैं, उसके कारण नहीं, बल्कि इसका कारण वे स्वयं ही हैं। हाँ, मेरे साथ एक दूसरा कारण भी है। मैं अपने ऊपर परिस्थितियों का भी एक ऐसा भारी दबाव महसूस करता रहा हूँ, जिसके कारण मुझे जीवित रहना बेहद मुश्किल मालूम देता है।

सभी मनुष्य समान होते हैं।

आश्चर्य है कि यह भी एक दर्शन हो सकता है! मैं नहीं मानता कि जिस व्यक्ति ने पहले-पहल इस बात की कल्पना की होगी, वह एक धार्मिक या दार्शनिक या कलाकार क़िस्म का व्यक्ति रहा होगा। इस आश्चर्यजनक कथन का प्रजातन्त्र या साम्यवाद से भी किसी तरह का कोई ताल्लुक़ नहीं है। निश्चय ही, यह कथन सर्वप्रथम किसी निम्न स्तर के गंदे शराब-घर में, किसी बदसूरत व्यक्ति द्वारा, किसी ख़ूबसूरत व्यक्ति के लिए कहा गया होगा। इस कथन की उत्पत्ति का कारण महज खीझ—या कहें ईर्ष्या—ही थी। आदर्श, या इसी तरह की किसी अन्य बात से इसका कोई ताल्लुक़ नहीं था।

लेकिन जिस कथन का प्रारम्भ किसी निम्न-स्तरीय शराब-घर में ईर्ष्या से प्रेरित चीख़ के रूप में हुआ, बाद में चलकर उसी ने जन-साधारण के बीच एक अजीब क़िस्म के आदर्श का रूप ले लिया, और इस तरह जिस कथन का प्रजातंत्र या साम्यवाद से कभी कोई ताल्लुक़ नहीं था, उसने अनजान में ही राजनीतिक और आर्थिक आदर्श का बाना ओढ़ लिया, और एक ग़ैर-मामूली रूप से गंदे वातावरण का निर्माण कर दिया।

सब मनुष्य समान हैं।

कितना बेहूदा कथन है यह! साम्यवाद यह कभी नहीं कहता कि सब मनुष्य समान हैं; वह तो मज़दूरों की उच्चता की घोषणा करता है। प्रजातंत्र भी नहीं कहता कि सब मनुष्य समान होते हैं; वह व्यक्ति की उच्चता प्रतिष्ठापित करता है। केवल एक अशिष्ट, अपढ़ मूर्ख ही कह सकता है—"हाँ, इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता कि उसकी उपलब्धियाँ क्या हैं; वह भी एक इन्सान ही तो है, ठीक वैसा ही जैसे कि हम सब है।"

यह कथन बेहूदा और घृणित है। मेरी मान्यता है कि आज के युग की चिन्ताकुल स्थिति का एकमात्र कारण यही एक कथन है। आज के युग में सभी इन्सान एक-दूसरे से भयभीत हैं, हर प्रतिष्ठित सिद्धान्त की अवमानना की जाती है, हर ईमानदार प्रयास का उपहास किया जाता है, सुख अस्वीकारा जाता है, सौन्दर्य को दूषित किया जाता है, सम्मान को मिट्टी में घसीटा जाता है, इन सबका प्रेरणा-स्रोत एकमात्र यही बेहूदा कथन है।

हालाँकि इस कथन के भोंडेपन के बारे में मुझे कोई सन्देह नहीं था, फिर भी मुझे स्वीकार करना पड़ता है कि इसने मुझे कुछ-कुछ भयभीत कर दिया था। भय, शर्म और परेशानी से मैं काँपने लगता था, और जो भी कार्य हाथ में लेता, उसे क्रियान्वित नहीं कर पाता था। शराब और अन्य मादक द्रव्यों से मुझे मात्र क्षणिक सुकून मिल पाता था।

काजुको!

कृपया मेरा यकीन करो।

आमोद-प्रमोद के इन साधनों से मुझे कभी ज़रा भी सुख नहीं मिला है। मैं, चूँकि एक 'एरिस्टोक्रेट' था, इसलिए अपनी छाया से बचने के लिए ही, पीने-पिलाने के इन उत्तेजक और वहशी क्रिया-कलापों में स्वयं को डुबो देता था।

लेकिन मुझे आश्चर्य होता है कि इसके लिए हमें दोष दिया जाता है। क्या

यह हमारा दोष है कि हम 'एरिस्टोक्रेट' पैदा हुए हैं ? हम एक 'एरिस्ट्रोक्रेट' परिवार में पैदा हुए हैं, क्या इसीलिए हमें यहूदियों की तरह अपना समूचा जीवन दीनता, अनादर और क्षमा-याचना के बीच व्यतीत करना होगा ?

मैंने और भी जल्दी इस जीवन का अन्त कर लिया होता। केवल एक चीज़ बाधा-स्वरूप थी : वह था माँ का प्यार। मैं केवल उसी की बात सोचकर मरने की अपनी इच्छा को क्रियान्वित नहीं कर पाता था। यह सच है, जैसा कि मैंने कहा है, कि जिस तरह इन्सान को अपनी इच्छानुसार अपने ढंग से जीने का अधिकार है, उसी तरह उसे अपनी इच्छानुसार, जब चाहे तब मरने का भी अधिकार है; लेकिन फिर भी जब तक माँ जीवित थी, मैं महसूस करता था कि मुझे इच्छानुसार मरने के अपने अधिकार को स्थगित रखना पड़ेगा, क्योंकि इसे क्रियान्वित करने का अर्थ था—उसकी भी मृत्यु।

अब अगर मैं मरता हूँ, तो किसी को भी इतना अधिक दुःख नहीं होगा कि वह स्वयं को किसी तरह की शारीरिक क्षति पहुँचाये। नहीं, क़ाज़ुको, मैं जानता हूँ कि मेरी मृत्यु से तुम्हें ठीक-ठीक कितना दुःख पहुँचेगा। निश्चित ही, जब तुम्हें यह ख़बर मिलेगी तो तुम रोओगी, लेकिन अगर तुम इस तथ्य पर ग़ौर करोगी कि यह घृणित जीवन जीने के कष्ट से छुटकारा पाकर मुझे कितना हर्ष हो रहा है, तो मुझे विश्वास है कि तुम्हारा दुःख धीरे-धीरे कम हो जाएगा।

अगर कोई व्यक्ति मेरी इस आत्महत्या की आलोचना करता है, और मेरे ऊपर निर्णय देते हुए यह घोषणा करता है (बिना किसी भी तरह की कोई सहायता दिये) कि मुझे अपने जीवन के पूरे दिन जीवित रहना चाहिए था, तो निश्चय ही मैं उसे उस विलक्षण गुण-सम्पन्न व्यक्ति के रूप में मानूंगा, जो बड़ी शान्ति से सम्राट् से एक फलों की दूकान खोलने का आग्रह कर सकता है।

काज़ुको !

मेरा मरना ही बेहतर है। मुझमें जीवित रहने की सामर्थ्य ही नहीं है। मेरे भीतर धन के लिए लोगों से लड़ने की शक्ति ही नहीं है। बल्कि, जब कभी यू-हारा या अन्य किसी व्यक्ति के साथ मैं शराब पीता था, तो बिल के पैसे मैं ही चुकाया करता था, क्योंकि ऐसे किसी भी व्यक्ति का पैसा, जो उसने स्वयं अपने प्रयत्नों से पैदा किया है, अपने लिए ख़र्च करवाना मुझे बेहद कष्टकर और घृणित कार्य लगता था।

और जब मुझे मजबूर होकर घर से पैसा लेना पड़ा, और घर की चीज़ें बेचनी पड़ीं, जिससे कि तुम्हें और माँ को कष्ट पहुँचता था, तो यक़ीन करो,

मुझे ज़रा भी ख़ुशी नहीं होती थी। प्रकाशन के जिस धन्धे की योजना मैंने बनाई थी, वह तो अपनी परेशानी छिपाने का महज एक बहाना था।

काज़ुको !

अब हम ग़रीब बन चुके हैं। जब मैं जीवित था, और मेरे पास साधन थे, मैं सदा दूसरों के लिए ख़र्च करने की सोचता रहता था; लेकिन अब तो स्थिति यह है कि हम दूसरों की दया पर ही जीवित रह सकते हैं।

काज़ुको !

इस स्थिति में मुझे अब और क्यों जिये चले जाना चाहिए ? अब जीने का कोई अर्थ नहीं। मैं मृत्यु को वरण करने जा रहा हूँ। मेरे पास एक ऐसा विष है, जो बिना कष्ट के मृत्यु की शाश्वत नींद में सुला सकता है। जब मैं फ़ौज में था, मैंने इसे प्राप्त किया था, और तब से इसे सँभालकर अपने पास रखा है।

काज़ुको, तुम सुन्दर हो (मुझे अपनी माँ-बहन की सुन्दरता पर सदा नाज़ रहा है) और बुद्धिमान भी हो। तुम्हारे लिए मुझे कोई चिन्ता नहीं है। दरअसल, दूसरों के लिए चिन्ता करने की मुझमें योग्यता ही नहीं है। मैं केवल हल्के-से लजा भर सकता हूँ—उस डाकू की तरह जो अपने ही शिकार के साथ सहानुभूति प्रदर्शित करता है। मैं आश्वस्त हूँ कि तुम शादी करोगी, तुम्हारे बच्चे होंगे, और तुम अपने पति के साथ अपना अस्तित्व क़ायम रख सकोगी।

काज़ुको !

मेरा एक राज़ है।

बहुत-बहुत समय से मैं इसे छिपाता आया हूँ। यहाँ तक कि जब मैं युद्ध के मोर्चे पर था, तब भी इसी के ख़यालों में खोया रहता था, और 'उसके' सपने देखा करता था। तुम्हें कैसे बताऊँ कि कितनी बार जगने पर, मैंने यह पाया है कि मैं नींद में रोता रहा हूँ।

मैं उसका नाम किसी को भी नहीं बताऊँगा; लेकिन मैंने सोचा है कि अब, जबकि मैं मृत्यु की दहलीज़ पर खड़ा हूँ, तो मेरी प्यारी बहन, कम-से-कम तुमसे मैं उसके बारे में सब कुछ बता दूँ। मैं पाता हूँ कि अब भी मैं इस बात से इस क़दर भयभीत हूँ कि उसका नाम अपनी ज़बान पर नहीं ला पाता।

लेकिन मैं महसूस करता हूँ कि अगर मैं इस राज़ को अपने सीने में ही लिये हुए मर गया तो मेरी मृत-देह के अन्तिम संस्कार के बाद भी मेरी

छाती का भीतरी भाग बिना जले हुए दुर्गन्ध से सड़ता रह जाएगा। यह विचार मुझे इतना अशान्त बना रहा है कि मैं तुमसे--मात्र तुमसे--इस राज़ के बारे में कहकर जाना चाहता हूँ।

'वह' पत्नी है--प्रौढ़ वय के एक ऐसे चित्रकार की, जिसने युद्ध के बाद एक नयी शैली में बहुत-से चित्र बनाकर अकस्मात् यश प्राप्त कर लिया था। वह चित्रकार बेहद वहशी क़िस्म का है, और दुश्चरित्र भी, लेकिन उसकी पत्नी के चेहरे पर सदा एक कोमल मुस्कान खेलती रहती है, मानो अपने पति के व्यवहार से वह ज़रा भी विचलित नहीं है।

शुरू में, उस चित्रकार के चित्रों की विशिष्ट शैली और उनमें निहित शक्ति से प्रभावित होकर मैं उसके घर जाया करता था; लेकिन ज्यों-ज्यों मैं उस चित्रकार का अन्तरंग होता गया, त्यों-त्यों उसका असंस्कृत व्यवहार, उसकी ग़ैर-ज़िम्मेदारी और उसकी गंदी आदतों के कारण मेरे ऊपर से उसका जादू हटता गया। इसके विपरीत अनुपात में, मैं उसकी पत्नी की भावात्मक सुन्दरता की ओर आकर्षित होता गया। धीरे-धीरे यह स्थिति आ गयी कि महज़ उसकी पत्नी की एक झलक पाने की आशा से ही मैं उस चित्रकार के घर जाने लगा।

तुम्हें कैसे बताऊँ कि उसकी पत्नी के लिए निष्फल उत्कंठा में मैं जो समय व्यतीत करता था, वह कितना दुःखदायी था! एक बार, मैंने स्वप्न में देखा कि उसकी पत्नी के दोनों हाथ मेरे हाथों में हैं, तो मैं तत्काल समझ गया कि वह भी मुझे बहुत समय से प्यार करती रही है। स्वप्न-भंग हो जाने के बाद भी उसकी उँगलियों की उष्णता मेरी हथेली में व्याप्त रही। मैंने मन-ही-मन समझ लिया कि मुझे इतने से ही संतोष करना होगा। यह बात नहीं कि मुझे नैतिकता या ऐसी ही किसी बात का भय था; बल्कि उस अर्द्ध-विक्षिप्त चित्रकार--या उसकी देव-तुल्य सनक--का डर मुझे अधिक था। उसकी पत्नी की ओर से अपना ध्यान हटाकर अपनी आकांक्षाओं की लपट को दूसरी ओर मोड़ने के लिए ही मैंने सब तरह के वर्जित कार्यों में स्वयं को आकण्ठ डुबो दिया, और बेहद बदनाम औरतों के संसर्ग में स्वयं को इस क़दर लिप्त कर लिया कि एक रात तो स्वयं उस दुश्चरित्र चित्रकार ने भी मुझे टोक दिया। मैं किसी भी तरह स्वयं को उसकी पत्नी के मोह-जाल से छुड़ाना चाहता था, उसे एकदम भूल जाना चाहता था; लेकिन ये समस्त उपाय व्यर्थ साबित हुए। मेरे जैसा व्यक्ति केवल एक ही औरत को प्यार कर सकता है। मैं बहुत स्पष्ट शब्दों

में कह सकता हूँ कि उसको छोड़कर, अपनी समस्त महिला-मित्रों में से एक को भी मैंने एक क्षण के लिए भी सुन्दर या प्यार करने योग्य नहीं समझा है।

काज़ुको !

मरने के पहले सिर्फ़ एक बार मैं उसका नाम लिखना चाहता हूँ।

सुगा !

यही उसका नाम है।

कल मैं एक नर्त्तकी [एक नितान्त बेवकूफ़ औरत] को लेकर यहाँ आया। इस औरत के लिए मेरे मन में ज़रा भी स्नेह नहीं है। जब मैं यहाँ पहुँचा, मैंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि मैं आज ही सुबह मरने जा रहा हूँ, हालाँकि मेरे मन में यह आशंका ज़रूर थी कि मैं अब अधिक दिन जीवित नहीं रहूँगा। मैं जानता था कि इस औरत को लेकर यहाँ तुम्हारे पास आने से तुम्हें कुछ परेशानी ज़रूर महसूस होगी, लेकिन मैं टोकियो की अपनी खुराफ़ातों से इतना थक चुका था कि इस मूर्ख औरत को लेकर कुछेक दिनों के लिए यहाँ आना ही मैंने ठीक समझा। जब तुम अपने मित्रों से मिलने टोकियो चली गयी, तो अचानक मेरे दिमाग़ में यह विचार कौंध गया—"अगर मुझे आत्महत्या करनी ही है तो इसके लिए उपयुक्त समय यही है।"

मैं हमेशा सोचा करता था कि निशिकाता स्ट्रीट वाले हमारे घर के अपने कमरे में ही मैं मरना पसन्द करूँगा। मुझे सदा इस विचार से भय लगता था कि अगर कहीं मैं किसी सड़क पर, गली-कूचे में, या होटल अथवा शराब-घर जैसी किसी आम जगह पर मर गया, तो मेरी लाश की दुर्गति हो जाएगी। लेकिन जब निशिकाता स्ट्रीट वाला हमारा घर हमारे हाथ से निकल गया, तो मैंने महसूस किया कि अब गाँव के इस घर में मरने के अलावा मेरे लिए और कोई चारा नहीं है। इस पर भी, जब मुझे यह ख़याल आता था कि मेरी मृत देह को सबसे पहले तुम देखोगी, और मैं कल्पना करता था कि इससे तुम कितनी भयभीत हो उठोगी, तो मैं मृत्यु को वरण करने में इस क़दर हिचकिचाने लगता था कि शायद मुझसे अन्ततः यह नहीं ही हो पाता।

और अब यह मौक़ा सामने है। तुम यहाँ नहीं हो, और तुम्हारी जगह एक निहायत कूढ़-मग़ज़ नर्त्तकी है, जिसे मेरी आत्महत्या का सबसे पहले पता लगेगा।

गत रात हम दोनों ने एक साथ मदिरा-पान किया, और मैंने दूसरी मंज़िल के विदेशी सज्जावाले कमरे में उसे सुला दिया। मैंने अपना बिस्तर निचली

मंज़िलवाले उस कमरे में लगाया, जहाँ माँ की मृत्यु हुई थी। तब मैंने इस दुःखद संस्मरण को लिखना शुरू किया।

काज़ुको! मेरे लिए अब कोई आशा शेष नहीं रही। अलविदा!

अन्तिम विश्लेषण में, मुझे अपनी मृत्यु स्वाभाविक ही लगती है, क्योंकि इन्सान केवल सिद्धान्तों के लिए ही जीवित नहीं रह सकता। मेरी तुमसे केवल एक प्रार्थना है—जिसे तुमसे कहते हुए मैं बहुत हिचक महसूस कर रहा हूँ—तुम्हें माँ वाले पटुए के उस किमोनो की याद होगी, जिसे तुमने इसलिए काट-छाँट करके सुधारा था कि अगली गर्मी में मैं उसे पहन सकूँ। कृपया, उसे मेरी देह के साथ मेरी ताबूत में रख देना। उसे पहनने की मेरी इच्छा थी।

रात समाप्ति पर है। मैंने तुम्हें काफ़ी कष्ट दिया है।

अलविदा!

मेरा रात का नशा अब पूरी तरह उतर चुका है। मैं अपने पूरे होश-हवास में मरूँगा।

एक बार और, अलविदा!

काज़ुको! मैं, अन्ततः, एक एरिस्टोक्रेट ही तो हूँ।

आज के युग का एक दिशाहीन विद्रोह

जोसे आरगेता ई गेस्से

●

स्पेनी निबंधकार और दार्शनिक; जन्म ९ मई १८८३, मैड्रीड में। पिता जोसे आरगेता ई मुनिला मैड्रीड के एक महत्त्वपूर्ण दैनिक पत्र 'एल एम्पारशियल' के भूतपूर्व सम्पादक थे। परिवार में और भी कई साहित्यिक सदस्य थे, शायद इसीलिए गेस्से ने एक बार कहा था : "मेरा जन्म तो छापेख़ाने की मशीन पर हुआ था।"

१९०४ में मैड्रीड विश्वविद्यालय से दर्शन और साहित्य में डॉक्टरेट की उपाधि हासिल की। इन्होंने लीपज़िग, बर्लिन और मारबर्ग के विश्वविद्यालयों में भी अध्ययन किया था। १९०८ में ये मैड्रीड विश्वविद्यालय में अध्यात्म-विद्या के प्रोफेसर नियुक्त हुए।

आरगेता ई गेस्से को पत्र-पत्रिकाएँ निकालने का शौक़ रहा है। इन्होंने कई दैनिक और मासिक पत्र-पत्रिकाओं की स्थापना की; तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओं के लिये भी लेख लिखते रहे।

१९२८ में गेस्से ने दक्षिण अमरीका का दुबारा भ्रमण किया, जहाँ उनका भव्य स्वागत किया गया, क्योंकि तब तक वे स्पेनी-भाषी लोगों में तत्कालीन स्पेन के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक के रूप में मान्य हो चुके थे। गृह-युद्ध के बाद जब स्पेन में फ्रान्को का आधिपत्य हो गया, तो उसने गेस्से के पास उनको स्पेन का 'राजकीय दार्शनिक' बनाने और उनकी कृतियों का एक डी लक्स संस्करण प्रकाशित करने का प्रस्ताव भेजा—इस शर्त पर कि वे अपने कुछ लेखों और कुछ अंशों को निकाल दें, तो गेस्से ने गर्व-पूर्वक तत्काल इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया था। तत्कालीन स्पेन के ये श्रेष्ठतम गद्यकार और शैलीकार माने जाते हैं।

गेस्से की सर्वाधिक लोकप्रिय पुस्तक 'द रिवोल्ट आफ़ द मासेज' है, जिसमें वे एक ऐसी बौद्धिक सामन्तशाही की आवश्यकता पर जोर देते हैं जो अपने उदार दृष्टिकोण से जन-साधारण के हित में शासन-सूत्र सम्भाल सके। प्रस्तुत अंश इसी पुस्तक के प्रथम अध्याय का संक्षिप्त-रूपान्तर है।

तत्कालीन यूरोप के जीवन में एक तथ्य आत्यन्तिक महत्त्व का है—चाहे भले के लिए हो या बुरे के लिए—और यह तथ्य है जन-साधारण (Mass) का पूर्ण सामाजिक अधिकार पर प्रतिष्ठित हो जाना। चूँकि जन-सामान्य को अपने व्यक्तिगत जीवन-पथ की दिशा स्वयं निर्धारित नहीं करनी चाहिए, और न वे ऐसा कर ही सकते हैं; फिर समाज पर शासन करने के तो वे और भी अधिक अयोग्य हैं; इसलिए स्पष्ट है कि आज यूरोप एक ऐसे संकट के कगार पर खड़ा है, जो लोगों, राष्ट्रों और समूची सभ्यता को ही विनाश के गर्त में ढकेल सकता है। यह संकट है जन-सामान्य का विद्रोह।

'विद्रोह', 'जन-सामान्य', 'सामाजिक अधिकार' आदि शब्दों से आप स्थिति को उलझा न लें, इसलिए एकदम प्रारम्भ में ही आपको चेता दूँ कि इन शब्दों का यहाँ राजनीति से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। जीवन मात्र राजनीतिक ही नहीं होता, बल्कि मुख्यतः बौद्धिक, नैतिक, आर्थिक और धार्मिक होता है; वह तो वस्तुतः हमारी सब तरह की आदतों का ही एक मिला-जुला रूप होता है, जिसमें हमारे पहनने-ओढ़ने और आमोद-प्रमोद के ढंग भी शामिल हैं। जन-सामान्य के विद्रोह से मेरा तात्पर्य क्या है? एक बात जो हम स्पष्ट देखते हैं, यह है कि आज नगर लोगों से भरे हुए हैं, मकान किरायेदारों से, होटल ठहरने वालों से, रेलें यात्रियों से, रेस्त्राँ और कैफ़े ग्राहकों से, पार्क घूमने-फिरनेवालों से, प्रसिद्ध डॉक्टरों के दवाख़ाने मरीज़ों से, थियेटर और सिनेमा-घर दर्शकों से, और समुद्र-तट स्नानार्थियों से भरे हैं। जो पहले कोई समस्या नहीं थी—यानी जगह प्राप्त करने की—वही अब रोज़मर्रा के जीवन की एक प्रमुख समस्या बन गयी है।

●

इस प्रकार हम देखते हैं कि सभ्यता के द्वारा जिन स्थानों और साधनों का निर्माण हुआ है, उन पर आज जन-सामान्य का अधिकार है। लेकिन क्या यह वांछनीय नहीं है? क्या यही आदर्श स्थिति नहीं है? थियेटर और सिनेमा-घरों में सीटें इसीलिए होती हैं कि उन पर लोग बैठ सकें, कि सिनेमा-घर भरे रह सकें; और आज वे भरे ही नहीं हैं, उफन रहे हैं, और तब भी भीतर घुसने की प्रतीक्षा में भीड़ बाहर खड़ी है। हालाँकि यह बात ऊपर से देखने पर तर्क-संगत और स्वाभाविक लगती है, लेकिन इसका एक पहलू और भी है: कि ऐसा पहले तो कभी नहीं हुआ, यानी अब यह जो हो रहा है अभूतपूर्व है, और यही हमारे आश्चर्य का कारण है।

तो यह भराव पहले नहीं था। फिर अब क्यों है? हमारे चारों ओर दिखाई देनेवाली यह भीड़ शून्य में से उत्पन्न नहीं हुई है। पन्द्रह वर्ष पहले भी लोगों की संख्या इतनी ही थी। बल्कि विश्वयुद्ध (१९१४—१८ का प्रथम विश्वयुद्ध) के बाद तो इस संख्या का कुछ-न-कुछ कम ही होना स्वाभाविक लगता है। तो, प्रथम महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकला कि आज से पहले इस भीड़ का निर्माण करनेवाले एकाकी व्यक्तियों का तो अस्तित्व था, भीड़ का अस्तित्व नहीं था। ये व्यक्ति छोटे-छोटे समूहों में, या एकाकीपन में, जो जीवन जीते थे, वह एक-दूसरे से भिन्न, एकाकी और कटा हुआ होता था। हर व्यक्ति या व्यक्तियों का छोटा समूह किसी गाँव में, कस्बे में, या नगर के एक हिस्से में अपना एक अलग स्थान रखता था। अब सहसा वे एक भारी भीड़ में प्रकट हो गये हैं, और जिधर हमारी दृष्टि उठती है, यह भीड़ हमें दिखाई देती है। केवल हर दिशा में ही नहीं, बल्कि खास कर उन सर्वोत्तम स्थलों में, मानव-संस्कृति के उन अपेक्षाकृत सुन्दरतर और सूक्ष्मतर क्षेत्रों में, जो पहले विशिष्ट व्यक्तियों के लिए, अल्प-संख्यकों के लिए सुरक्षित रहते थे, आज वे भी इस भीड़ से आक्रान्त है। यह भीड़ सहसा गोचर हो उठी है, और समाज के विशिष्ट महत्त्ववाले स्थानों पर इसने अपना कब्जा जमा लिया है। पहले, अगर इसका अस्तित्व था भी, तो इसकी ओर किसी का ध्यान नहीं जाता था, क्योंकि इसका स्थान समाज के रंगमंच की पृष्ठिभूमि में था; अब यह भीड़ अग्रभाग के प्रकाश में निकल आयी है, और रंगमंच का प्रमुख पात्र बन गयी है।

●

भीड़ के इस तथ्य का अगर हम समाज-शास्त्रीय भाषा में तब्दील करें, तो इसका विश्लेषण इस प्रकार हो सकता है। समाज के दो प्रमुख अंग होते हैं: विशेष और जन-सामान्य। विशेष उन व्यक्तियों या व्यक्तियों के उन समूहों को कहते हैं, जो विशेष रूप से योग्यता प्राप्त और निपुण होते हैं। दूसरी ओर जन-सामान्य लोगों के उस झुण्ड को कहते हैं, जो विशेष रूप से योग्यता प्राप्त या निपुण नहीं होते। तो, जन-साधारण से हमारा आशय एकान्तिक रूप से या प्रमुख रूप से, 'श्रमजीवी लोगों' से ही नहीं है। जन-सामान्य यहाँ सामान्य इन्सान के लिए प्रयुक्त हुआ है।

●

मनोवैज्ञानिक शब्दावली में हम जन-सामान्य को परिभाषित करना चाहें, तो किसी भी एक व्यक्ति को लेकर आसानी से यह निर्धारित कर सकते हैं कि वह जन-सामान्य की गिनती में आता है, या नहीं। जन-सामान्य उसको कहेंगे जो स्वयं पर किसी भी तरह का—अच्छा या बुरा—कोई ऐसा मूल्य स्थापित नहीं करता जिसके लिए कुछ विशिष्ट आधार की आवश्यकता होती है, बल्कि जो ख़ुद को 'हर सामान्य व्यक्ति' की तरह महसूस करता है, और जो इसको लेकर किसी तरह की चिन्ता भी नहीं करता; बल्कि दरअसल, स्वयं को हर साधारण व्यक्ति की तरह महसूस करके सन्तुष्ट और सुखी ही होता है। एक ऐसे सामान्य-मानसिक-स्तरीय व्यक्ति की कल्पना करिये, जो विशिष्ट धरातलों और कसौटियों पर अपनी क़ीमत आँकने की कोशिश करता है—स्वयं से पूछता है कि इस या उस कार्य को करने की योग्यता उसमें है, या नहीं; किसी एक दिशा में उसे विशिष्टता हासिल है, या नहीं—और पाता है कि उसमें ऐसी कोई विशेष योग्यता नहीं है। इस तरह का व्यक्ति महसूस करेगा कि वह मध्यम दर्जे का या साधारण स्तर का है, कि उसमें कोई विशेष योग्यता नहीं है, लेकिन वह ख़ुद को जन-सामान्य की कोटि में नहीं गिनेगा।

●

जब हम 'चुनिन्दा विशेष' की बात करते हैं, तब 'चुनिन्दा व्यक्ति' से हमारा तात्पर्य उस अहंवादी व्यक्ति से नहीं होता, जो ख़ुद को अन्य सबसे उच्च समझता है; बल्कि उस व्यक्ति से होता है, जो दूसरों की तुलना में स्वयं से अधिक की माँग करता है; फिर चाहे वह उन उच्चतर माँगों की पूर्ति के लिए आवश्यक तत्त्व अपने भीतर उपस्थित न भी पाए। मानव-समाज को हम इन्हीं दो भागों में बाँट सकते है : एक में वे व्यक्ति आते हैं जो ख़ुद से बहुत अधिक की माँग करते हैं, और अपने लिए मुश्किलों और ज़िम्मेदारियों का पहाड़ खड़ा कर लेते हैं; दूसरे में वे लोग आते हैं जो स्वयं से किसी विशेष बात की माँग नहीं करते, बल्कि जो जैसे हैं उसी तरह रहने में सन्तुष्ट महसूस करते हैं, और पूर्णता की ओर अग्रसर होने के लिए अपेक्षित किसी भी तरह का कोई प्रयत्न नहीं करना चाहते।

अस्तु, 'चुनिन्दा विशेष' और 'जन-साधारण' के बीच समाज का यह विभाजन वस्तुतः सामाजिक वर्गों वाला विभाजन नहीं है, मनुष्यों के वर्गोंवाला विभाजन है, और 'उच्च' तथा 'निम्न' वर्गों वाले समाजवादी विभाजन से इसका

कोई सम्बन्ध नहीं है। दरअसल, यह कहना अधिक सही होगा कि इन तथाकथित दोनों ही उच्च और निम्न वर्गों में जन-सामान्य और विशेष योग्यता वाले विशेष अल्पसंख्यक पाये जाते है।

तो समाज में ऐसे बहुत-से कार्य है, जो अपने विशिष्ट स्वभाव के कारण, बिना विशेष योग्यता वाले व्यक्तियों के पूर्ण नहीं किये जा सकते। उदाहरणार्थ, कला तथा कुछ अन्य सूक्ष्म गुणों वाले कार्यों से प्राप्त होनेवाला आनन्द, सरकार द्वारा किये जाने वाले कार्य, और जन-साधारण के कार्यों से सम्बन्धित राजनीतिक निर्णय आदि। पहले ये विशिष्ट कार्य विशेष रूप से योग्यता-प्राप्त विशेष व्यक्तियों द्वारा ही किये जाते थे। जन-साधारण ने इनमें हस्तक्षेप करने की कभी कोशिश नहीं की; वे महसूस करते थे कि इस तरह के हस्तक्षेप की इच्छा जाहिर करने का अर्थ यह होगा कि उनकी पूर्ति के लिए अपेक्षित विशिष्ट गुणों को भी उन्हें अनिवार्य रूप से प्राप्ति करनी होगी, और तब वे जन-साधारण रहेंगे ही नहीं। एक स्वस्थ और गत्यात्मक समाज-व्यवस्था में अपने स्थान को वे बखूबी पहचानते थे।

●

शुरू में हमने जिन तथ्यों की ओर सकेत किया है, अगर अब पुनः उन पर ग़ौर करें, तो आज जन-सामान्य का परिवर्तित रुख स्पष्ट हो जाएगा। वे सब तथ्य यही बताते है कि आज जन-सामान्य सामाजिक जीवन के अग्रभाग की ओर अग्रसर होने, स्थानों पर कब्जा जमाने, सभ्यता और संस्कृति के साधनों और उपलब्धियों का उपभोग करने के लिए कृत-सकल्प है, जो पहले कुछ विशेष अल्प-सख्यकों के लिए सुरक्षित थे। स्पष्ट है कि ये जगहें भीड़ के लिए कभी नहीं बनी थीं, क्योंकि इनके आयाम बहुत सीमित है, और भीड़ है कि निरन्तर बढ़ती ही जा रही है; और इस तरह हमलोग आँखों के सामने इस विराट घटना को बहुत स्पष्ट घटते हुए देख रहे हैं : जन-सामान्य बिना जन - सामान्य के घेरे से निकले अल्प-संख्यक विशेष को स्थानच्युत कर रहा है।

●

मुझे विश्वास है, इस बात की शिकायत किसी को नहीं होगी कि पहले की अपेक्षा आज अधिक लोग अधिक मात्रा में सुखों का उपभोग कर रहे हैं; दर-असल ख़राबी यह है कि जन-सामान्य का यह क्षेत्र केवल सुखों के उपभोग तक ही सीमित नहीं रहा है, बल्कि यह तत्कालीन जीवन के हर क्षेत्र की एक सामान्य बात हो गयी है। उदाहरणार्थ, राजनीति के क्षेत्र को लिया जा सकता है, जिसमें की गयी

हाल की उद्‌भावनाओं का एकमात्र मक़सद यही है कि राजनीतिक क्षेत्र में भी जन-सामान्य का अधिकार स्थापित हो जाए। प्राचीन प्रजातंत्र में अनुशासन और क़ानून के प्रति सम्मान की भावना पायी जाती थी, और उदार सिद्धांतों तथा क़ानून की छत्रछाया में अल्पसंख्यक कार्य कर सकते थे। प्रजातंत्र और क़ानून समान-धर्मा थे। आज हम एक झूठे प्रजातंत्र की विजय-पताका फहराते हुए देखते हैं, जिसमें जन-सामान्य सीधा सक्रिय होता है, क़ानून की परवाह नही करता और भौतिक दबाव के द्वारा अपनी इच्छाओं और आकांक्षाओं को अल्पसंख्यकों पर थोप देता है। यह कहना सही नहीं है कि आज जन-सामान्य ने राजनीति की पेचीदगियों से ऊबकर कुछ विशिष्ट योग्यताप्राप्त व्यक्तियों के हाथ में उसके उपयोग का अधिकार सौंप दिया है। सत्य इसके सर्वथा विपरीत है। यह स्थिति तो दरअसल पहले थी; यही असली प्रजातंत्र था। जन-सामान्य ने यह स्वीकार कर लिया था कि अपनी समस्त खामियों और कमजोरियों के बावजूद अल्पसंख्यक-विशेष राजनीति और जन-साधारण की समस्याओं को उसकी तुलना में अधिक अच्छी तरह समझ सकता था। इसके विपरीत, अब जन-सामान्य का यह विश्वास हो चला है कि जिन विचारों की उत्पत्ति कैफ़े और रेस्त्राओं में होती है, उन्हें क़ानून के द्वारा मान्यता प्राप्त करवाने का अधिकार उसे ही है।

●

ठीक यही बात अन्य क्षेत्रों में भी घटित हो रही है, विशेषकर बौद्धिक क्षेत्र में। हो सकता है, मेरी धारणा ग़लत हो, लेकिन मैं ऐसा सोचता हूँ कि आज लेखक जब किसी ऐसे विषय पर लिखता है, जिसका उसने गहरा अध्ययन किया है, तब भी उसे यह बात अपने दिमाग़ में रखनी पड़ती है कि जिस सामान्य पाठक को उस विषय की कोई विशेष जानकारी नहीं है, वह भी उसकी पुस्तक पढ़ता है तो उससे कुछ सीखने के लिए नहीं, बल्कि जिन बातों के संबंध में वह लेखक से सहमत नहीं होता उन पर अपना विपरीत निर्णय देने के लिए ही ऐसा करता है। आज के युग की विशेषता ही यह है कि निम्नस्तरीय दिमाग़—यह जानते हुए भी कि वह निम्नस्तरीय है—अपने निम्नस्तरीय अधिकारों की घोषणा करने के लिए, और जहाँ कहीं संभव हो उन्हें दूसरों पर थोपने के लिए, सदा आश्वस्त और उद्धत रहता है। आज जन-सामान्य उस सबको अपने पैरों तले कुचलता जा रहा है, जो भिन्न है, शानदार है, व्यक्तिगत है, विशेष रूप से योग्यताप्राप्त और चुनिन्दा है। कोई भी ऐसा व्यक्ति जो हर एक के सदृश नहीं है, जो हर एक की तरह ही सोचता-विचारता नहीं, सदा विनाश

के ख़तरे में रहता है। और स्पष्ट है कि आज का यह 'हर एक' पहले वाला 'हर-एक' नहीं है। पहले 'हर एक' का सीधा-सादा मतलब होता था—जन-साधारण और विशिष्ट योग्यताप्राप्त अल्पसंख्यकों का अनुपम मिश्रण। आज 'हर एक' केवल जन-साधारण होता है। यह हमारे आज के युग का वह विराट सत्य है, जो अपनी समस्त पाशविक आकृति-विकृति सहित हमारे सामने उपस्थित है।

नारी : प्रणयिनी रूप में

साइमन दे व्यूवोय

●

जन्म ९ जनवरी १९०८, पेरिस में। फ्रान्सीसी उपन्यास-लेखिका और एक प्रमुख अस्तित्ववादी दार्शनिका। सन् १९२९ में सोरबोन्न से दर्शन-शास्त्र में उपाधि प्राप्त की।

सोरबोन्न के छात्र-जीवन में व्यूवोय के सहपाठी ज्यॉ-पाल सार्त्र भी थे। उस समय प्रारम्भ हुई उनकी मित्रता आज तक क़ायम है, और अस्तित्ववादी आन्दोलन के सिलसिले में यह बहुत बहुमूल्य साबित हुई है। सार्त्र के साथ व्यूवोय ने अस्तित्ववादी पत्रिका 'ले टेम्प्स माडर्न्स' का सम्पादन भी किया। विशेष बात यह कि सार्त्र की सहयोगिनी होते हुए भी, व्यूवोय ने चिन्तन के क्षेत्र में उनकी नक़ल कभी नहीं की, और अपना अलग अस्तित्व क़ायम रखा है।

सुन्दर, उत्साही और गहन विदुषी इस महिला ने काफ़ी भ्रमण किया है, और व्याख्यान दिये हैं। १९४७ में इन्होंने सम्पूर्ण संयुक्त राज्य अमरीका का भ्रमण किया और युद्धोत्तर लेखक की नैतिक समस्याओं पर व्याख्यान दिये।

व्यूवोय का विस्तृत निबन्ध 'द एथिक्स आफ़ एम्बीग्विटी' सन् १९४८ में प्रकाशित हुआ था जिसमें व्यूवोय ने अस्तित्ववाद की अपने ढंग से व्याख्या प्रस्तुत की है। सन् १९५२ में 'अमेरिका डे बाइ डे' शीर्षक यात्रा-विवरण प्रकाशित हुआ जिसमें अमरीकन जीवन पर व्यक्त इनके विचार काफ़ी चर्चा का विषय रहे।

लेकिन व्यूवोय की सब पुस्तकों में सर्वाधिक चर्चा और विवाद का विषय १९५३ में प्रकाशित 'द सेकेण्ड सेक्स' रही है जिसकी 'सैटरडे रिव्यू' में तो एक साथ एक ही अंक में छः समीक्षाएँ प्रकाशित हुई थीं, और लगभग सभी ने स्वीकार किया था कि हमारे युग की कुछ गिनी-चुनी महान् पुस्तकों में यह भी एक है।

बहुत-कुछ विश्वकोष के स्तर पर रचित इस पुस्तक में लेखिका ने बहुत विस्तारपूर्वक, अधिकारपूर्वक और गहरी अन्तर्दृष्टि के साथ नारी मनोविज्ञान का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है। पुस्तक के प्रारम्भ में लेखिका ने स्वीकार किया है कि वह इसे अस्तित्ववादी विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में लिख रही है। लेखिका की स्थापना यह है कि हमारे समाज में नारी के निम्न स्थान का कारण परम्परागत सामाजिक शक्तियाँ

और रूढ़ियाँ हैं जो नारी को उसके स्वतंत्र और आत्म-निर्भर अस्तित्व तथा एक प्रतिष्ठित मानवी के अधिकार से वंचित कर देती हैं।

प्रस्तुत लेख उनकी इसी पुस्तक के 'द वुमन इन लव' शीर्षक अध्याय का संक्षिप्त-रूपान्तर है जिसमें नारी के प्रणयिनी रूप का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

प्रणय शब्द का अर्थ नारी और पुरुष के लिए समान नहीं होता। बायरन ने ठीक कहा था : "प्रणय, पुरुष-जीवन में एक अलग वस्तु की तरह होता है, जब कि नारी का समूचा अस्तित्व।" नीत्से भी यही बात कहता है : "वस्तुतः, प्रणय नामक यह अकेला शब्द नारी और पुरुष के लिए दो भिन्न अर्थ रखता है। नारी के लिए प्रेम मात्र भक्ति नहीं होता, वरन् बिना कुछ भी लुकाये-छिपाये, बिना किसी तरह का हीला-हवाला किये या प्राप्ति की आशा किये अपनी देह और आत्मा को सम्पूर्ण रूप से समर्पित कर देने का भाव होता है; जबकि पुरुष नारी से प्रेम करता है तो उससे अपने प्रेम का प्रतिदान चाहता है। अगर कहीं ऐसे पुरुष हों जिनमें नारी की तरह एकान्त समर्पण की चाह हो, तो मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि वे पुरुष हो ही नहीं सकते।"

पुरुष 'महान् प्रेमी' कभी नहीं हो सकते। अपनी उत्तेजना के तीव्रतम क्षणों में भी वे सम्पूर्ण मन से समर्पण नहीं करते; उनके लिए प्रेमिका अन्य बहुत से मूल्यों में मात्र एक मूल्य होती है; वे उसे अपने अस्तित्व में एकाकार कर लेना चाहते हैं, अपने अस्तित्व को सम्पूर्णतः उस पर लुटाते कभी नहीं। इसके विपरीत, नारी के लिए प्यार करने का अर्थ है अपने प्रिय के लाभ के लिए अपना सब-कुछ न्यौछावर कर देना। सेसिल सावेज का तो कहना है कि, "नारी प्यार करती है, तो खुद को भूल जाती है। यह प्रकृति का नियम है।"

●

लेकिन सचाई यह है कि हमें यहाँ प्रकृति के नियमों से कुछ लेना-देना नहीं है। प्रेम के प्रति नारी और पुरुष की धारणाओं में जो अन्तर है वह वस्तुतः उनकी विभिन्न परिस्थितियों के ही परिणामस्वरूप है। बचपन से ही नारी पुरुष के अधीन रहती है; पुरुष को वह एक ऐसे अद्वितीय व्यक्ति के रूप में देखने की अभ्यस्त होती है जिसकी वह बराबरी नहीं कर सकती, इसलिए इस शक्तिशाली व्यक्तित्व में खुद को एकाकार कर देने के स्वप्न देखती है। इसके सिवाय उसे

कोई रास्ता ही नहीं दिखाई देता। वह अपनी इस गुलामी को ही स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति समझने लगती है। अपनी इस स्थिति को सम्पूर्णतः स्वीकार करके ही वह इससे ऊपर उठने की कोशिश करती है। अपनी देह, अपनी भावनाएँ और अपने व्यवहार—सब-कुछ में वह पुरुष को ही उच्चतम मूल्य और चरम यथार्थ के सिंहासन पर आसीन कर लेती है। उसके सामने वह खुद को शून्य दिखाने में भी दीनता महसूस नहीं करती। प्रणय उसके लिए धर्म का रूप ले लेता है।

एक सीधी-सादी किशोरी की दृष्टि में पुरुष का महत्त्व, परिस्थितियों के अनुसार, उसकी शारीरिक शक्ति, धन, बुद्धि, अधिकार, सामाजिक प्रतिष्ठा, व्यवहार में विशिष्टता, फौजी वर्दी आदि में से किसी में भी निहित हो सकता है, लेकिन एक चीज़ जो वह निश्चित रूप से सदा चाहती है वह यह कि उसका प्रेमी पुरुषत्व के सार-तत्व का प्रतिनिधि हो।

अक्सर निकटता नारी की दृष्टि में पुरुष की प्रतिष्ठा को नष्ट कर देती है: ऐसा प्रथम चुम्बन में भी हो सकता है, और दैनिक मेल-मुलाक़ात में या सुहागरात के दौरान में भी। जो हो, दूर से प्रेम करने वाली बात महज कपोल-कल्पना है, यथार्थ नहीं। हाँ, प्रेम की आकांक्षा पहले से भी हो सकती है लेकिन यह आकांक्षा तीव्र प्रेम का रूप तभी ले सकती है जब यह ऐन्द्रिय सुख के स्तर पर भोग ली जाती है। दूसरी ओर, शारीरिक मिलाप के बाद भी प्रेम उत्पन्न हो सकता है। पर इन दोनों ही स्थितियों में ऐन्द्रियता का तत्त्व जरूर शामिल रहता है।

लेकिन अक्सर यह होता है कि नारी अपने परिचितों में से किसी को भी प्यार के सिंहासन पर बैठाने में सफल नहीं होती। साधारणतः नारी के जीवन में प्रेम का जितना अधिक स्थान समझा जाता रहा है, दरअसल है उससे बहुत कम। पति, बच्चे, घर, आमोद-प्रमोद, सामाजिक दायित्व, अहं, यौनाचार, कैरियर आदि उसके लिए कहीं अधिक महत्त्व रखते हैं। बहुत-सी स्त्रियाँ एक महान् प्रेमी के स्वप्न देखा करती हैं—एक ऐसे प्रेम के स्वप्न जो उनके देह-मन-प्राण को जड़-मूल से हिलाकर रख दे। वस्तुतः वे इस तरह के प्रेम के निकट तक पहुँचकर रह जाती हैं। यह प्रेम आंशिक, कटे-फटे, उपहासास्पद, अपूर्ण और मिथ्या रूपों में उनके पास आता है, लेकिन बहुत ही कम नारियाँ ऐसी होंगी जो इसके लिए अपना जीवन सचमुच उत्सर्ग कर देती है।

मनोविश्लेषकों का कहना है कि नारी अपने प्रेमी में अपने पिता का प्रतिरूप खोजती है। एक छोटी बच्ची के रूप में वह अपने घर और परिवार से बँधी रहती है, उसके सिर पर उसके माँ-बाप का साया रहता है; युवा प्रणय में उसे पुनः अपनी माँ और अपने पिता मिल जाते हैं, अपना बचपन मिल जाता है। बहुत-सी स्त्रियों के प्रेम में इस बाल्यकालीन नाटक की अनुगूंज समायी रहती है ; यही कारण है कि उन्हें पुरुषों द्वारा 'मेरी नन्हीं-मुन्नी', या 'तुम तो बिल्कुल बच्ची हो' आदि कहा जाना इतना अच्छा लगता है।

सभी धर्मों में, अपने आराध्य की भक्ति के समय, हर भक्त के मन में अपने एकान्त और पूर्ण समर्पण के साथ, अपनी व्यक्तिगत मुक्ति की भावना भी निहित रहती है। प्रेम करते समय नारी के मन में भी इसी गहरे और पूर्ण आत्मार्पण की भावना कार्य करती है। नयन बन्द, अनाम और विस्मृत-सी, वह महसूस करती है गोया लहरों पर बैठी हुई, आँधी के थपेड़ों से किन्हीं अन्धकार की पर्तों में बहती चली जा रही है। उसका 'मैं' नष्ट हो जाता है; अपनी जड़ से उखड़ कर वह 'पूर्ण' के साथ एकाकार हो जाती है। लेकिन जब उसका प्रिय-पात्र उससे दूर चला जाता है, तब वह फिर स्वयं को इसी धरती पर प्रकाश में खड़ी हुई पाती है। अब पुनः उसका एक नाम है, एक चेहरा है; वह अब एक पराजित, शिकार और वस्तु रह जाती है।

प्रेम में निहित इस ऐन्द्रिय तत्त्व के ही कारण हम अक्सर देखते हैं कि धार्मिक सूत्रों और प्रणय-गीतों में अश्लीलता की समानता पायी जाती है। बात यह नहीं है कि रहस्यवादी प्रेम ही ऐन्द्रिय प्रकृति का होता है, बल्कि प्यार करनेवाली स्त्री की ऐन्द्रियता में ही रहस्यवाद का रंग निहित होता है। "मेरे प्रभु, मेरे आराध्य, मेरे मालिक और स्वामी"—घुटनों पर झुककर प्रार्थना करती हुई भक्तिन और सेज पर लेट कर प्रेम करती हुई प्रेमिका दोनों के होठों पर एक—जैसे ही शब्द होते हैं। दोनों नारियों के मन में वही एक-जैसा स्वप्न होता है,—वही बचपन का स्वप्न, वही रहस्यवादी स्वप्न, वही प्रेम का स्वप्न : कि 'मैं' को 'अन्य' में एकाकार करके एक पूर्ण अस्तित्व की प्राप्ति करना।

इस स्वप्न की सिद्धि के लिए नारी का सबसे पहला साधन है—सेवा करना, क्योंकि अपने प्रिय-पात्र की माँगों को पूरा करने में उसे महसूस होता है कि उसका अस्तित्व निरर्थक नहीं है, बल्कि आवश्यक है। रहस्यवादियों का भी तो यही विश्वास है, जैसा कि एंजेलस सिलेसस का कहना है, कि ईश्वर को भी मनुष्य की आवश्यकता है; ऐसा नहीं होने पर तो मनुष्य का त्याग और समर्पण ही व्यर्थ हो

जायेगा। पुरुष जितनी अधिक माँगें करता जाता है, नारी उतना ही संतोष महसूस करती है।

ये लक्षण हर प्रेमिका में पाये जाते हैं। अगर ज़रूरत हो, तो अपने प्रेमी के नाम पर वह ख़ुद पर अत्याचार करने से भी बाज़ नहीं आती। जो-कुछ वह है, जो-कुछ उसके पास है, और उसके जीवन का हर क्षण केवल उसके प्रिय-पात्र को समर्पित होना चाहिए; तभी उसके होने की सार्थकता है। उसे दुःख होता है तो केवल तब जब उसका प्रिय-पात्र उससे किसी चीज़ की माँग नहीं करता। स्त्री में यह भावना इस सीमा तक कार्य करती है कि अक्सर एक भावना-प्रवण प्रेमी महज उसकी संतुष्टि के लिए नयी-नयी माँगों का निर्माण करता रहता है।

●

प्रेम के प्रारम्भिक दिनों में नारी पहले से अधिक सुन्दर और अधिक शोभाशाली बन जाती है। "जब अदिले मेरे बाल सँवारती है, तो मैं चाव से अपने मुखड़े की ओर देखती हूँ, क्योंकि तुम उसे प्यार करते हो"—ये शब्द हैं मैडमोयसिले डी एगोल्ट के; सामान्यतः हर प्रेमिका की यही भावना रहती है। यह मुखड़ा, यह देह, यह कमरा, यह मैं—उसे इन सबके होने की सार्थकता मिल जाती है। लेकिन कुछ समय बाद, ठीक इसके विपरीत, वह ये सब साज-सँवार और चोंचले छोड़ देती है। अगर उसके प्रेमी की इच्छा हो तो वह अपने उस पूर्व रूपाकार को भी बदलने के लिए तैयार हो जाती है जो पहले उसे अपने प्रणय से भी अधिक प्रिय था। अब इन सबमें उसकी रुचि समाप्त हो जाती है। जिस चीज़ की उसका प्रिय परवाह नहीं करता उससे वह भी विमुख हो जाती है। अपने हृदय की हर धड़कन, अपने रक्त की आखिरी बूंद, अपनी देह का रोम-रोम वह अपने प्रेमी को समर्पित कर देती है। आत्म-समर्पण की इस क्रिया को वह दारुण यंत्रणा, बल्कि मृत्यु तक खींच ले जाती है। जिस वस्तु का उसके प्रिय के लिए उपयोग नहीं उसे वह पागल की तरह मिटा देती है।

आध्यात्मिक प्रेम की तरह, मानवीय प्रेम का भी अन्तिम लक्ष्य अपने प्रिय-पात्र के साथ एकाकार होना ही है। मूल्यों का मान, जगत का सत्य—सब चूँकि उसके प्रिय में ही निहित है, इसलिए मात्र उसकी सेवा करना पर्याप्त नहीं है। वह अपने प्रेमी की आँखों से देखने की कोशिश करती है; जिन किताबों को उसका प्रेमी पढ़ता है उन्हीं को वह पढ़ती है; जिस संगीत और चित्र को वह पसन्द करता है उन्हीं को वह भी चाहती है; जिन स्थलों को वह उसके साथ देखती

है और जो विचार उसके दिमाग़ से उपजते हैं, उन्हीं स्थलों और विचारों में उसकी रुचि होती है। वह उसके मित्रों को अपना मित्र, उसके शत्रुओं को अपना शत्रु और उसकी राय को अपनी राय मान लेती है। जब वह अपने से कोई प्रश्न करती है, तब जो उत्तर सुनना चाहती है वह 'उसका उत्तर' होता है; अपने फेफड़ों में वही हवा भरना चाहती है जिसमें उसके प्रिय की साँस शामिल हो; जो फल और पुष्प उसके प्रिय के हाथ से प्राप्त नहीं होते उनमें कोई स्वाद या सुगन्ध नहीं रहती। यहाँ तक कि उसकी स्थान सम्बन्धी धारणा भी उलट-पुलट जाती है : सृष्टि का केन्द्र अब वह जगह नहीं होती जहाँ वह ख़ुद रहती है, बल्कि वह हो जाती है जहाँ उसका प्रेमी रहता है; सभी रास्ते उसके प्रिय के घर की ओर जाते हैं या वहीं से शुरू होते है। वह उसके शब्दों का उपयोग करती है, उसके हाव-भाव की नक़ल करती है, उसकी सनकों और लतों को अपना लेती है। 'वुदरिंग हाइट्स' में कैथरीन कहती है, "मैं हीथक्लिफ हूँ।" यह केवल कैथरीन की नहीं, हर प्रणयिनी के मन की आवाज़ है; वह 'वह' बन जाती है। वह अपनी दुनिया को लुप्त हो जाने देती है; क्योंकि दरअसल वह अपने प्रिय-पात्र की दुनिया में रहती है।

एक प्रेमिका का महानतम सुख इस भावना में निहित होता है कि उसका प्रिय-पात्र उसे अपना ही एक अंग समझता है। जब उसका प्रिय 'हम' शब्द का व्यवहार करता है, तब उस 'हम' में वह ख़ुद को भी शामिल मानती है। वह उसकी प्रतिष्ठा में हिस्सा बँटाती है और उसके साथ समूची दुनिया पर शासन करती है। इस 'हम' शब्द को बार-बार दुहराने में वह कभी थकान का अनुभव नहीं करती। जब तक वह प्यार करती है और प्यार का प्रतिपादन पाती रहती है और अपने प्रिय-पात्र के लिए स्वयं को आवश्यक समझती रहती है तब तक अपना अस्तित्व पूर्णतः सार्थक मानती रहती है, तब तक सुख और शान्ति महसूस करती रहती है।

●

लेकिन अफ़सोस, यह स्थिति अधिक समय तक क़ायम नहीं रह पाती। कोई भी मनुष्य सचमुच ईश्वर नहीं है। एक अदृश्य आराध्य के प्रति एक भक्तिन की आस्था के स्थायित्व का कारण यह है कि यह उस अकेली की लगन पर निर्भर रहती है; लेकिन देवत्व के सिंहासन पर स्थापित मनुष्य, जो दरअसल देवता है नहीं, स्वयं सामने उपस्थित रहता है। यही तथ्य एक प्रेमिका की पीड़ाओं का स्रोत होता है। उसकी नियति अठारहवीं सदी की विख्यात बौद्धिक

महिला जुली दे लेस्पिनास के प्रसिद्ध शब्दों में यों व्यक्त की जा सकती है :"मेरे प्रिय मित्र, सदा-सदा मैं तुम्हें प्यार करती हूँ, पीड़ा सहती हूँ और तुम्हारी प्रतीक्षा करती हूँ।" यह सच है कि पीड़ा प्रेमियों को भी होती है, लेकिन उनकी पीड़ा या तो कम अवधि तक क़ायम रहती है या फिर इतनी हृदय-विदारक नहीं होती; जबकि नारी, चूँकि वह एकान्त रूप से पुरुष पर निर्भर होती है, अपने लिए इसी पीड़ा में एक नरक का निर्माण कर लेती है। लेकिन जब प्रेमिका को अपने देवता-तुल्य आदर्श प्रिय की खामियों का पता चलता है, तब दुःख और निराशा से उसका हृदय चाक-चाक हो जाता है। भ्रम टूटने का यह दुःख उस बच्चे के दुःख से कहीं अधिक तीखा होता है जो अपने पिता की प्रतिष्ठा को मिट्टी में मिलते हुए देखता है, क्योंकि नारी अपने इस प्रिय-पात्र का अपनी स्वेच्छा से चुनाव करती है और उसे अपना सर्वस्व समर्पित कर चुकी होती है।

इस निराशा का कारण यह है कि वह अपने प्रिय-पात्र पुरुष को भगवान् मानकर पूजती है जब कि सचमुच में वह एक साधारण इन्सान होता है। अपने प्रेमी को मानवीय तुला पर तौलने से अस्वीकार करनेवाली बात में नारी-मन की बहुत-सी गुत्थियाँ छिपी हुई हैं। नारी अपने प्रेमी से किसी बात की माँग करती है। अगर प्रेमी मान जाता है ? तो वह उदार, धनी, शानदार है, राजा है, देवता है। अगर प्रेमी उस बात को नहीं मानता ? तो वह नीच, घृणित और क्रूर है, शैतान और पशु समान है। 'हाँ' और 'नहीं' से होनेवाली इन दो अतिवादी महामानवीय और अमानवीय प्रतिक्रियाओं के बीच क्या मानवीय प्रतिक्रिया का कोई स्थान नहीं है ?

एक पतित देवता मनुष्य भी नहीं रहता, वह धोखेबाज़ होता है। एक प्रेमी के लिए ज़रूरी है कि या तो यह सिद्ध करे कि वह सचमुच का राजा है जो सबके लिए सम्मान का पात्र होता है, या फिर स्वीकार करे कि वह राजा होने का ढोंग कर रहा था। स्त्री या तो अपने प्रेमी की पूजा करती है, या फिर उसे पैरों से ठुकराना चाहती है। वह अपने प्रिय के चारों ओर प्रकाश का एक घेरा बनाकर रखती है, और उसमें किसी भी तरह की कमज़ोरी स्वीकार नहीं करना चाहती; लेकिन जब उसका प्रिय उसके मन-मन्दिर में स्थापित देवी-प्रतिमा के अनुकूल स्वयं को सिद्ध नहीं कर पाता तब उसे बेहद निराशा और झुँझलाहट होती है। यहाँ तक कि अगर वह थक जाता है या लापरवाही दिखाता है, ग़लत समय पर भूख या प्यास महसूस करता है, कोई ग़लती करता है या अपनी ही बात का विरोध करता है, तो वह कहने लगती है कि अब वह 'वह' नहीं रहा।

एक भाव-प्रवण प्रणयिनी के दुःख का कारण यह है कि उसकी उदारता जल्दी ही ज़िद में बदल जाती है। चूंकि वह खुद को अन्य में लुप्त कर चुकी है, इसलिए इस नुक़सान की क्षति-पूर्ति करना चाहती है—जिस व्यक्ति ने उसे बन्धन में डाल दिया है उसे अपने अधिकार में करके। वह अपने को संपूर्णतः अपने प्रिय के ऊपर न्योछावर ज़रूर कर देती है, लेकिन साथ ही यह भी आशा करती है कि वह इस भेंट को लेने के लिए सम्पूर्ण रूप से प्राप्य रहे। वह अपना हर क्षण उसे समर्पित कर देती है, लेकिन यह आवश्यक है कि वह हर समय उपस्थित रहे। वह केवल उसी में जीवित रहना चाहती है, लेकिन चूंकि वह जीवित रहना चाहती है, इसलिए आवश्यक है कि उसका प्रिय उसके जीवित रहने के इस कार्य में मदद करने के लिए खुद को पूरी तरह लगा दे। मिले दे लेस्पिनास के निम्न-लिखित शब्दों में यही पुकार ध्वनित हो रही है।

"आह, मेरे प्रभु! काश तुम जान पाते कि तुम्हें नहीं देख पाने के कारण मुझे अपने ये दिवस और यह समूची ज़िन्दगी कितनी खोखली लगती है; तुम्हारे अभाव में इसमें कोई रुचि नहीं, कोई ख़ुशी नहीं। मेरे मित्र, तुम्हारे लिए आमोद-प्रमोद, धन्धा, और कर्म काफ़ी है; जब कि मेरे लिए, मेरे सुख तो तुम हो, मात्र तुम। अगर मुझे अपने जीवन के हर दिन तुम्हें देखने और प्यार करने की चाह नहीं होती, तो मैं जीने की ही परवाह नहीं करती।"

●

प्रेमिका अपने प्रेमी को अनेक ज़िम्मेदारियों और बोझों से लाद देती है और आशा करती है कि वह उनको कृतज्ञतापूर्वक वहन करे। लेकिन मुश्किल यह है कि प्रेमिका का अत्याचार सन्तुष्ट होना नहीं जानता। सच है कि प्यार करनेवाला पुरुष भी अत्याचारी होता है, लेकिन जब वह अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त कर लेता है तब सन्तुष्ट हो जाता है, जब कि एक प्रेमिका की अतिशय भक्ति की कोई सीमा नहीं होती। जिस प्रेमी का अपनी प्रेमिका में विश्वास है, वह इस बात से अप्रसन्न नहीं होता कि उसकी प्रेमिका अनुपस्थित है या दूर किसी अन्य कार्य में व्यस्त है; अगर उसे इस बात का विश्वास हो कि वह उसकी है, तो फिर वह उसे अपनी वस्तु बनाकर रखने की अपेक्षा उसे स्वतन्त्र रहने देना अधिक पसन्द करेगा। इसके विपरीत, नारी के लिए अपने प्रेमी की अनुपस्थिति सदा पीड़ादायिनी होती है। अगर उसका प्रेमी उसके अलावा किसी अन्य वस्तु की ओर नज़र भी डालता है, तो उसे पीड़ा होती है; यहाँ तक कि उसकी बग़ल में बैठा हुआ भी अगर वह पढ़ता, लिखता या और कुछ करता रहता

है तो उसे लगता है कि वह उसे धोखा दे रहा है, उसे त्याग रहा है। वह उसकी नींद से भी घृणा करती है। उसे निद्रामग्न देह की इस पशुतुल्य निष्क्रियता से नफ़रत होती है क्योंकि नींद की स्थिति में उस देह का अपने लिए अस्तित्व होता है, प्रेमिका के लिए नहीं।

देवता को सोना नहीं चाहिए, क्योंकि नींद में वह मिट्टी और हाड़-माँस बन जाता है। स्त्री को लगता है कि पुरुष की नींद स्वार्थपूर्ण और प्रवंचनामय होती है। जब प्रेमी अपनी प्रिया को नींद से जगाता है, तब उसे आलिंगनबद्ध करने के लिए ऐसा करता है; जब प्रेमिका अपने प्रिय को जगाती है, तब महज इसलिए कि उसे नींद से रोकना चाहती है; उसे वहाँ, उस कमरे में, बिस्तर पर उपस्थित रखना चाहती है—जिस तरह कि ईश्वर को मन्दिर में रखा जाता है। नारी अपने पुरुष को क़ैद में रखना चाहती है : वह एक जेलर होती है।

●

लेकिन नारी-प्रेम की यह दुःखद गुत्थी है कि वह अपने प्रणयी को मात्र क़ैदी के रूप में देखना भी पसन्द नहीं करती। क्योंकि क़ैदी होने पर, देवता अपने देवत्व से वंचित हो जाता है। ईर्ष्या से प्रेरित उन्मादपूर्ण क्षणों को छोड़कर, वह चाहती है कि उसका प्रेमी भी कार्यरत रहे, क्रियाशील रहे, क्योंकि अगर वह उपलब्धियों और सफलताओं की प्राप्ति में ख़ुद को व्यस्त नहीं रखता तो उसकी निगाह में अब पहलेवाला हीरो नहीं रहता। मध्य युग का सरदार और नाइट जब नये साहसिक कार्यों की खोज में निकलता था तो उसकी प्रेमिका को बुरा लगता था, लेकिन अगर वह उसके चरणों के पास बैठा रहने के लिए रुक जाता, तो उसके लिए प्रेमिका के मन में तीव्र घृणा ही पैदा होती। असंभव प्रेम की यह गहरी पीड़ा है जिससे नारी अपने को बचा नहीं पाती।

जब प्रेमिका यह पाती है कि उसका प्रेमी उसे अपना सर्वस्व नहीं समझता, तब वह स्वयं को कम-से-कम यह विश्वास दिलाने की कोशिश करती है कि वह उसके लिए अनिवार्य है; वह ख़ुद को अपने प्रेमी के बहुमूल्य अस्तित्व की नींव समझती है। और एक शक्की दिमाग़ की प्रेमिका स्वयं से यह प्रश्न पूछने के लिए लाचार हो जाती है, "क्या उसे सचमुच 'मेरी' आवश्यकता है?" प्रेमी उसे चाहता है, अपने हृदय के समस्त स्नेह और आकांक्षा के साथ चाहता है, लेकिन उसकी जगह कोई दूसरी होती तो क्या उसे भी वह उतने ही स्नेह से प्यार नहीं करता? पुरुष की चाह में अक्सर ऐसी आग होती है जो काल का अतिक्रमण करती-सी लगती है; जिस क्षण वह किसी औरत को चाहता है, उसे अपने हृदय की

समस्त भावना से चाहता है, मात्र 'उसे' चाहता है। और, निश्चय ही, वह क्षण अपने में पूर्ण होता है, लेकिन यह पूर्णता भी क्षणिक ही होती है। इस तथ्य को न जानने के कारण स्त्री इस क्षण को चिर-स्थायी समझने लगती है। अपने प्रिय के आलिंगन में आबद्ध, मान लेती है कि वह सदा ऐसी ही देवी रही है और इस देवता के लिए मात्र उसी का निर्माण हुआ है—किसी भी और का नहीं, मात्र उसी का। लेकिन पुरुष की चाह जितनी तीव्र होती है, उतनी ही क्षणिक भी। एक बार तुष्ट हो जाने पर यह उतनी ही शीघ्रता से समाप्त हो जाती है; जब कि नारी के साथ इसकी विपरीत बात लागू होती है, यानी अक्सर बाद में ही वह इस प्रेम की कैदिनी बनती है। अनेक देशों के साहित्य और लोकगीतों में यही भाव अभिव्यक्त होता है: "एक युवक उस रास्ते जा रहा था तो एक लड़की गा रही थी.... एक युवक गा रहा था तो लड़की रो रही थी।"

●

एक बहुत भाव-प्रवण प्रेमिका प्रेम में शान्ति महसूस नहीं कर पाती, क्योंकि जो अन्त उसे दिखाई देता है वह अपने-आपमें विरोधात्मक होता है। पीड़ा से टूट-बिखरकर, वह अपनी आकांक्षा के अनुसार अपने प्रेमी की दासी बनने की जगह बोझ बन जाती है; अनिवार्य नहीं बन पाने की स्थिति में सिर-दर्द और बकवास बन जाती है। दरअसल, यह एक सामान्य ट्रेजेडी बन गयी है। अगर नारी भावुक कम और बुद्धिमान अधिक होती है तो अपनी स्थिति को स्वीकार कर लेती है। मान लेती है कि अपने प्रेमी के लिए वह सर्वस्व नहीं है, अनिवार्य नहीं है। उसके लिए वह अपना उपयोगी होना ही पर्याप्त समझ लेती है; कोई दूसरी भी उसके स्थान की पूर्ति आसानी से कर सकती है; वह उसी जगह पर स्वयं के होने से सन्तुष्ट हो जाती है। वह बदले में बिना दासता की माँग किये अपनी दासता स्वीकार कर लेती है। इस तरह वह एक सामान्य क़िस्म के सुख का उपभोग कर सकती है, लेकिन इन सीमाओं में भी काँटे बिछे हुए हैं।

प्रतीक्षा पत्नी की अपेक्षा प्रेमिका के लिए अधिक कष्टकर होती है। अगर पत्नी विशेष रूप से प्रेमिका क़िस्म की हुई, तो माँ और गृहिणी के दायित्व, काम-काज और अन्य सुख-सुविधाओं का उसकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं रहता: केवल पति की उपस्थिति ही उसे निष्क्रियता के दलदल से ऊपर उठा सकती है। अपनी शादी के प्रारम्भिक दिनों में सेसिल सावेज लिखती है, "तुम्हारे चले जाने के बाद खिड़की से बाहर झाँकना भी मुझे व्यर्थ प्रतीत होता है; उसके बाद तो

में मृत बराबर हो जाती हूँ, कुर्सी पर झूलते हुए वस्त्र की तरह निर्जीव और निष्प्राण हो जाती हूँ।"

●

लेकिन, जैसा कि हम देख चुके हैं, तीव्र और भाव-प्रवण प्रेम अक्सर शादी के बाहर ही पैदा होता और फूलता-फलता है। जूलियट ड्राउट का जीवन इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है; उसका समूचा जीवन ही एक लम्बी प्रतीक्षा थी। "मैं चिरकाल से तुम्हारी प्रतीक्षा करती आ रही हूँ," उसने विक्टर ह्यूगो को लिखा था, "मैं पिंजड़े में बन्द चिड़िया की तरह तुम्हारी प्रतीक्षा करती हूँ....मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करती हूँ, क्योंकि तुम अभी नहीं आओगे यह मान लेने की अपेक्षा तो चिरकाल तक तुम्हारी प्रतीक्षा करते जाना ही मैं ठीक समझती हूँ।" चूँकि अपने प्रेमी से हुई मुलाक़ातों के समय को छोड़कर शेष समय उसके पास करने को कोई काम नहीं रहता था, इसलिए उसने कुल मिलाकर उसे सत्रह हज़ार पत्र लिख डाले थे—यानी प्रति वर्ष तीन सौ से लेकर चार सौ पत्रों के हिसाब से।

एक प्रणयिनी की सबसे बड़ी ट्रेजेडी यही है कि उसके दिन बोरियत के मरुस्थल होते हैं। जब पुरुष उसका उपयोग नहीं कर रहा होता है तब उसे लगता है कि वह है ही नहीं। इसलिए अपने अस्तित्व को क़ायम रखने के लिए उसे यह आवश्यक लगता है कि उसका प्रणयी उसकी बग़ल में उपस्थित रहे, उसमें लगा रहे। वह उसके आगमन की प्रतीक्षा करती है, उसकी इच्छा-आकांक्षाओं की प्रतीक्षा करती है, उसके नींद से जागने की प्रतीक्षा करती है, और ज्यों ही वह बाहर चला जाता है, वह पुनः उसके लौटने की प्रतीक्षा करने लगती है। जो नारी अपनी नियति अपने हाथों में नहीं ले लेती, उसे इसी तरह का कठोर दण्ड भुगतना पड़ता है।

प्रतीक्षा भी सुखद हो सकती है, लेकिन केवल उस नारी के लिए जो यह जानती है कि उसका प्रेमी उसके पास पहुँचने के लिए तेज़ क़दमों से चला आ रहा है। जो जानती है कि उसका प्रेमी उसे सचमुच प्यार करता है उसके लिए प्रतीक्षा में भी सुख का तत्व मिला होता है। लेकिन प्रिय की अनुपस्थिति को भी उपस्थिति में बदल देने वाला यह विश्वास ज्यों-ज्यों क्षीण होता जाता है, त्यों-त्यों अनुपस्थिति के साथ पीड़ादायिनी बेचैनी की मात्रा बढ़ती जाती है। कहीं ऐसा तो नहीं कि वह कभी लौटकर ही नहीं आये!

सबसे बुरी बात तो यह कि कहीं वह उसे प्यार करना ही बंद न कर दे, किसी अन्य औरत को न चाहने लगे! क्योंकि नारी ख़ुद को चाहे जितना भ्रम में

रखे और स्वयं से कहती रहे : "वह मेरे प्रेम में दीवाना है, वह केवल मुझसे प्यार कर सकता है," लेकिन ईर्ष्या की दारुण यंत्रणा से वह भी खुद को नहीं बचा सकती। तीव्र और विरोधी धारणाओं को एकसाथ अपने भीतर पलने देना ग़लत आस्था की ही एक विशेषता है। वह अपने से यह प्रश्न शायद ही कभी पूछती है : "क्या वह सचमुच मुझे प्यार करता है ?" लेकिन यह दूसरा प्रश्न सैकड़ों बार पूछ लेती है : "क्या वह किसी और से प्यार करता है ?" वह इस तथ्य को कभी स्वीकार नहीं करती कि उसके प्रति उसके प्रेमी के प्रणय की तेज़ी धीरे-धीरे कम होती गयी है; न वह यही मानने को प्रस्तुत होती है कि उसका प्रेमी उसकी अपेक्षा प्रेम को कम महत्त्व देता है। वह तो तत्काल अपनी कल्पना में अपनी रकीबों का आविष्कार कर लेती है।

ईर्ष्या की अनुभूति पुरुष में भी होती है, लेकिन उसके लिए प्रेम की तरह ईर्ष्या भी क्षणिक उत्तेजना की स्थिति होती है; उत्तेजना की यह स्थिति बहुत तीव्र और हिंसात्मक भी हो सकती है, लेकिन पुरुष के लिए यह एक चिर-स्थायी बेचैनी का रूप नहीं ले पाती। साधारणतः उसकी ईर्ष्या मुख्य नहीं, गौण अनुभूति होती है : जब उसका व्यवसाय ठीक नहीं चल रहा हो, जब उसे महसूस हो कि जिन्दगी उसे चोट पहुँचा रही है, तब उसे लगता है कि उसकी औरत उसे धोखा दे रही है।

दूसरी ओर, नारी चूँकि अपने पुरुष को सम्पूर्णता से प्यार करती है, इसलिए वह हर क्षण खुद को खतरे में ही महसूस करती रहती है। चूँकि वह अपना पूरा अस्तित्व अपने प्रेमी के साथ घुला-मिला देती है, इसलिए उसकी सम्पूर्ण नियति अपने प्रेमी की उस एक नज़र में समायी रहती है जो वह किसी अन्य औरत की ओर उठाता है। इसीलिए वह हमेशा सतर्क रहती है : वह क्या कर रहा है ? किसकी ओर देख रहा है ? किसके साथ बात कर रहा है ? कोई भी एक अभागा क्षण उसे 'अमरत्व के जगमगाते प्रकाश' से दैनन्दिन जीवन के धुँधलके में पटक सकता है। उसे प्रेम से ही सब कुछ प्राप्त हुआ था, एक बार उसे खोते ही सब कुछ उसके हाथ से खो जायेगा। ईर्ष्या चाहे निश्चित हो या अनिश्चित, ग़लत हो या सही, नारी के लिए सदा उन्मादक और पीड़ादायिनी होती है। अगर उसे विश्वास हो जाए कि वह सचमुच प्रवंचित की गयी है, तो उसके लिए दो ही रास्ते बचते हैं : या तो वह प्रेम को उसके पावन धार्मिक स्वरूप से वंचित कर दे, या फिर प्यार करना ही बन्द कर दे। यह विकट संकट की स्थिति होती है, और कोई आश्चर्य नहीं अगर संदेह और भ्रम के झूले में झोंके खाती

एक प्रेमिका जहाँ एक ओर इस घातक सत्य की जानकारी के लिए बेचैन रहती है, वहीं दूसरी ओर इसे जान लेने के भय की आशंका भी उसे खाये जाती है ।

●

प्रेम एक स्त्री के लिए अन्य स्त्रियों के साथ मित्रता की संभावना को भी ख़त्म कर देता है, क्योंकि वह अपने प्रेमी की दुनिया में ही स्वयं को क़ैद कर लेती है । इस तरह की प्रेमिका जब ईर्ष्या के चक्कर में पड़ती है, तब उसका यह अकेलापन और अपने प्रेमी पर उसकी निर्भरता और अधिक बढ़ जाती है। अपने प्रेमी के सुखद संसार में खोयी हुई जो प्रणयिनी अपने साज-सँवार की भी उपेक्षा करने लगी थी, उसको जब ख़तरे की आशंका होती है तब वह पुनः अपने शरीर और उसके साज-सँवार की ओर ध्यान देने लगती है । वस्त्र, घर की देखभाल, समाज की आँखों में स्वयं को आकर्षक और वांछनीय दिखाने की इच्छा आदि बातें बहुत-कुछ युद्ध-का सा रूप ले लेती है । यहाँ तक कि एक गर्वीली नारी भी ऐसे समय विनम्र और उदार दिखने के लिए लाचार हो जाती है; मुस्कुराहट, आकर्षक चालें, आज्ञाकारिता, ख़ुशामद, मान-मनौवल आदि अपने सभी श्रेष्ठतम हथियारों का उपयोग शुरू कर देती है ।

लेकिन उसके ये सारे हथियार व्यर्थ साबित होते हैं । उसके जिस पूर्व रूप ने उसके प्रणयी को प्रारम्भ में उसकी ओर आकर्षित किया था, और जिनके लिए अब उसका प्रेमी किसी अन्य औरत की ओर आकर्षित होने लगा है, उन्हें फिर से जीवित करने में वह सफल नहीं हो पाती । वह ख़ुद को पुनः अपने प्रेमी की इच्छानुसार ढालने की कोशिश करती है । बहुत-सी स्त्रियाँ, जो प्रेम की प्रारंभिक स्थितियों में उल्लास और गर्व से फूली नहीं समातीं, जब उनको पता लगता है कि उन्हें पहले की-सी तीव्रता से प्रेम नहीं किया जा रहा है, तब वे उन्मादक और भयावह दासता का व्यवहार करने लगती हैं; यहाँ तक कि वे अपने प्रेमी के लिए खीझ और झुँझलाहट की वस्तु बन जाती हैं । जब उन्हें इस सत्य का पता लगता है तब उनका दुःख उन्हें और भी अधिक दयनीय बना देता है : आँसुओं, माँगों और रूठने के दृश्यों द्वारा वे अपना रहा-सहा आकर्षण भी खो देती हैं। 'मैं मात्र प्रणय हूँ'—यही एक प्रणयिनी का वेदवाक्य होता है; और सच भी है, वह प्रेम के सिवाय और कुछ नहीं होती, और जब उसी प्रेम का आधार उससे छीन लिया जाता है, तब उसके पास कुछ शेष नहीं रहता, वह शून्य हो जाती है ।

कुछ उदाहरण ऐसे भी हैं, जब वह अपनी ग़लती महसूस करती है; ऐसी

स्थिति में वह पुनः अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करने की, अन्य पुरुषों को अपनी ओर आकर्षित करने की कोशिश करती है। इस सबसे कभी-कभी उसका उदासीन पूर्व-प्रेमी पुनः उसमें रुचि लेने लगता है, क्योंकि अक्सर उसकी अनुपस्थिति उसकी प्रतिष्ठा और उसके महत्त्व को प्रेमी की निगाहों में बढ़ा देती है। प्रूस्त की प्रेम-कथा इसका एक उदाहरण है। जब अलबरटाइन उसके पास होती—हर क्षण समर्पण के लिए तत्पर, तो वह उसे नीरस और अरुचिकर लगती, लेकिन वही जब दूर चली जाती, तो पुनः रहस्यमयी हो उठती; और ईर्ष्यालु प्रूस्त फिर से उसके बारे में सोचने लगता।

लेकिन इस तरह की चालें बहुत नाजुक होती हैं; अगर प्रेमी उन्हें पहचान लेता है तो प्रेमिका की स्थिति अधिक उपहासास्पद और दासतापूर्ण हो जाती है। अगर उसके मन में अब भी अपने प्रेमी के लिए सम्मान और प्रेम की भावना का कुछ अंश शेष हो, तो उसे धोखा देने की बात सोचना भी उसे घृणित लगता है; क्योंकि अगर वह बाज़ी जीत जाए, तो उसके देवता की प्रतिमा नष्ट होती है और बाज़ी हार जाने का मतलब है खुद को ही खो देना। सचमुच, उसके लिए मुक्ति का कोई रास्ता नहीं रहता।

●

एक सतर्क प्रणयिनी—हालाँकि ये दोनों शब्द परस्पर-विरोधी हैं—अपने प्रेमी की वासना को स्नेह, मित्रता और स्वभाव में बदलने की कोशिश करती है; या फिर उसे सुदृढ़ बन्धनों में बाँधने का प्रयत्न करती है—जैसे कोई बच्चा, या शादी। शादी की यह आकांक्षा बहुत-सी प्रणयिनियों के दिलों को मथती रहती है: दरअसल यह सुरक्षा की आकांक्षा होती है। एक चतुर प्रणयिनी का प्रणय जब ताज़ा रहता है, तभी वह अपने भविष्य को सुरक्षित करने के लिए उससे लाभ उठाने की कोशिश करती है, लेकिन इस तरह की नाप-जोख करने वाली नारी को प्रणयिनी का दर्जा नहीं दिया जा सकता, क्योंकि प्रणयिनी तो वही नारी कहला सकती है, जो अपने प्रेमी की स्वतन्त्रता को मुट्ठी में रखने के लिए ज़रूर पगलों की तरह स्वप्न देखा करती है, लेकिन उसे नष्ट करने की बात कभी नहीं सोचती। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेम-धर्म का परिणाम दुःखान्त ही क्यों होता है? इसके अपवाद रूप में शायद ही ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकें, जिनमें दोनों के स्वतन्त्र मिलन की स्थिति जीवन भर क़ायम रही हो।

यह सच है कि सम्बन्ध-विच्छेद की स्थिति पुरुष पर भी अपनी छाप छोड़

जाती है, लेकिन आखिरकार उसे पुरुष का जीवन जीना होता है। लेकिन एक परित्यक्ता नारी कुछ नहीं रहती, उसके पास कुछ नहीं बचता। अगर उससे पूछा जाये कि प्यार करने के पहले वह किस तरह का जीवन जी रही थी, तो वह कुछ नहीं बता सकती, क्योंकि उसको कुछ भी याद नहीं रहता। वह प्रेम की नई दुनिया में प्रवेश करते समय, अपनी पहलेवाली दुनिया को नष्ट-भ्रष्ट होकर मिट्टी में मिल जाने देती है; अब अचानक यह होता है कि इस नई दुनिया से भी उसे खदेड़ दिया जाता है। प्रेम के पूर्व जिन मूल्यों में उसकी आस्था थी उन्हें वह छोड़ चुकी होती है, अपनी सब पुरानी मित्रताओं को तोड़ चुकी होती है; अब उससे इस प्रेम का आधार भी छिन जाता है तो वह पाती है कि उसके सिर पर खुला आसमान है, और चारों ओर सूखे रेगिस्तान का अनन्त विस्तार। वह नया जीवन किस तरह शुरू करे, क्योंकि उसे लगता है कि उसके प्रेमी के बाहर तो किसी और चीज़ का अस्तित्व ही नहीं है। ऐसी स्थिति में, अगर वह कमज़ोर-दिल की होती है तो पागलपन का शिकार हो जाती है; और बहुत मज़बूत दिल की होती है तो उसके लिए मौत के सिवाय कोई चारा नहीं होता,—यह मृत्यु तत्काल आ सकती है, या इंच-इंच करके। इस दूसरी स्थिति में उसकी पीड़ा अधिक समय तक क़ायम रहती है, और वह घुल-घुलकर प्राण त्यागती है। जो स्त्री लगातार दस वर्ष या बीस वर्ष तक अपने सम्पूर्ण देह-मन-प्राण से एक पुरुष की पूजा करती आयी है, जब अचानक त्याग दी जाती है, तो उसकी भयानक और हृदयविदारिणी पीड़ा का अन्दाज़ा सहज ही लगाया जा सकता है। "मैं अब क्या करूँ?" एक चालीस वर्षीया औरत अपने से प्रश्न करती है: "अगर वह मुझे प्यार करना बन्द कर दे तो मैं क्या करूँगी?" वह अपने वस्त्र और साज-सँवार पर बहुत अधिक ध्यान देना शुरू कर देती है, लेकिन उसके चेहरे से यौवन का लावण्य तो विदा ले चुका होता है; इस कड़े तथा रूखे चेहरे से वह नया प्यार प्राप्त करने में कैसे सफल हो सकती है? दूसरी ओर, उसके लिए भी क्या यह संभव है कि लगातार बीस वर्षों तक एक पुरुष की छाया में जीवन व्यतीत करने के बाद अब किसी और पुरुष को प्यार कर सके? और सचाई यह है कि चालीस के बाद भी जीने के लिए बहुत-से वर्ष शेष रहते हैं।

हाँ, यदि प्रेमिका युवा है, तो उसके फिर से सँभल जाने की संभावना रहती है—एक नया प्रेम उसके पुराने दुःख-दर्दों को दूर कर सकता है। कुछ नारियाँ इस तरह दुबारा प्यार करते समय पहले की अपेक्षा अधिक सतर्क रहती

हैं, लेकिन अक्सर यह भी होता है कि वे पहले की अपेक्षा अधिक तीव्रता और उत्तेजना से प्यार करती हैं। क्योंकि इस तरह वे अपनी पहली हार की क्षति-पूर्त्ति करना चाहती हैं। प्रथम प्रेम की असफलता तभी लाभदायक सिद्ध हो सकती है, जब नारी पुनः स्वयं को अपने हाथ में कर ले।

●

दरअसल, सच्चा प्रणय तो वह है जो दोनों की स्वतंत्रताओं की पारस्परिक स्वीकृति पर आधारित होता है; तभी प्रणयी और प्रणयिनी परस्पर एक-दूसरे की सही स्थिति समझ सकते हैं; तभी दोनों में से किसी की क्षति नहीं होती, और वे एक साथ मिलकर इस दुनिया में मूल्यों और लक्ष्यों की प्राप्ति कर सकते हैं। तभी उन दोनों के पारस्परिक बलिदान द्वारा प्रणय खुद को सही अभिव्यक्ति देगा, और यह संसार पहले से अधिक समृद्ध और सुखी हो सकेगा।

लेकिन समान स्तर पर पारस्परिक प्रणय वाली यह बात व्यवहार में नहीं आ सकती, कारण यह कि नारी और पुरुष की स्थितियाँ समान नहीं होतीं। पुरुष की स्थितियाँ-परिस्थितियाँ अलग होती हैं, और वही उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं। अगर नारी की स्थितियाँ-परिस्थितियाँ भी पुरुष के समान होतीं तो समान स्तर पर पारस्परिक प्रेम वाली यह बात सही साबित हो सकती थी। मतलब यह कि अगर वह भी पुरुष की तरह आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र होती, अपने लक्ष्यों की पूर्त्ति के लिए खुद ही प्रयत्न कर सकती, इसके लिए उसे पुरुष को एक माध्यम के रूप में उपयोग करने की ज़रूरत नहीं होती, अपने सामाजिक दायित्वों को वह स्वयं ही निभा सकती.....केवल तब नारी के लिए समान स्तर पर प्रणय संभव हो सकता।

लेकिन व्यवहार में यह संभव नहीं हो पाता, क्योंकि नारी जब से होश सँभालती है, उसका अपना व्यक्तिगत अस्तित्व नहीं होता, वह स्वयं को सदा पुरुष द्वारा ही निर्मित पाती है। उसकी मुक्ति उसके इस निर्माता की स्वतंत्र इच्छा पर निर्भर रहती है; जो जब चाहे उसे बना सकता है और जब चाहे मिटा सकता है। यह अनिच्छा से बना हुआ जल्लाद, अपनी और उसकी इच्छा के विरुद्ध, उसका दुश्मन बना रहता है। इसलिए प्रेम करने वाली नारी को इच्छित मिलाप की जगह वस्तुतः जो मिलता है वह नितान्त कड़ुवा अकेलापन होता है; सहयोग की जगह उसे जो-कुछ मिलता है वह संघर्ष होता है, और अक्सर तो उसे घृणा ही मिलती है। नारी के लिए प्रणय का अर्थ ही है पुरुष पर निर्भर रहने वाली अपनी इस स्थिति को स्वीकार करके चलना, लेकिन इस स्वीकृति के बावजूद

पर-निर्भरता का यह जीवन केवल भय और दासता में ही जिया जा सकता है। पुरुषों ने नारी-प्रेम की महिमा और गरिमा की प्रशंसा में ज़मीन-आस्मान के कुलाबे मिला दिये हैं, लेकिन यह महज़ एक प्रवंचना है। जैसा कि हम देख चुके हैं, वर्तमान परिस्थितियों में तो नारी के लिए प्रेम, दुःख और वेदना का ही अजस्र स्रोत है। प्रेम, पुरुष की तरह नारी के लिए भी घातक ख़तरे की जगह जीवन और प्रेरणा का स्रोत केवल उस दिन बन सकता है जिस दिन उसके लिए अपनी कमज़ोरी में नहीं बल्कि अपनी शक्ति में, ख़ुद से बचने में नहीं बल्कि ख़ुद को पाने में, स्वयं को दीन ज़ाहिर करने में नहीं बल्कि स्वयं का अधिकार प्रदर्शित करने में प्रेम करना संभव हो सकेगा। तब तक प्रणय एक बेहद हृदय-विदारक अभिशाप के रूप में उस पर भार बना रहेगा, तब तक नारी इसी तरह अपनी कमज़ोर दुनिया में क़ैद रहेगी, तब तक नारी इसी तरह क्षत-विक्षत रहेगी। प्रेम की वेदी पर बलिदान होनेवाली असंख्य नारियाँ भाग्य के इस अन्याय के विरुद्ध साक्षी देने के लिए प्रस्तुत की जा सकती हैं, जिनको भाग्य की इस विडम्बना ने चरम मुक्ति के रूप में एकमात्र नरक की यातना भोगने के लिए दी है।